

Chapter छः

पुरुष सूक्त की पुष्टि

ब्रह्मोवाच

वाचां वह्नेर्मुखं क्षेत्रं छन्दसां सप्त धातवः ।

हव्य-कव्यामृतान्नानां जिह्वा सर्व-रसस्य च ॥ १ ॥

शब्दार्थ

ब्रह्मा उवाच—ब्रह्माजी ने कहा; वाचाम्—वाणी का; वह्नेः—अग्नि का; मुखम्—मुख; क्षेत्रम्—जनन-विन्दु; छन्दसाम्—वैदिक मन्त्रों का, यथा गायत्री का; सप्त—सात; धातवः—त्वचा तथा अन्य छः स्तर; हव्य-कव्य—देवताओं तथा पितरों को दी गई भेंट; अमृत—मनुष्यों का भोजन; अन्नानाम्—सभी प्रकार के खाद्य पदार्थों का; जिह्वा—जीभ; सर्व—समस्त; रसस्य—समस्त व्यंजनों का; च—भी ।

ब्रह्माजी ने कहा : विराट पुरुष का मुख वाणी का उद्गम-विन्दु है और उसका नियामक देव अग्नि है। उनकी त्वचा तथा अन्य छह स्तर (आवरण) वैदिक मन्त्रों के उद्गम-विन्दु हैं और उनकी जीभ देवताओं, पितरों तथा सामान्यजनों को अर्पित करनेवाले विभिन्न खाद्यों तथा व्यंजनों (रसों) का उद्गम है।

तात्पर्य : यहाँ पर भगवान् के विराट रूप के ऐश्वर्यों का वर्णन हुआ है। यह कहा गया है कि उनका मुख सभी प्रकार की वाणी का उद्गम-केन्द्र है और इसका अधिष्ठाता देव अग्निदेव है। उनकी त्वचा तथा शारीरिक रचना के अन्य छः स्तर, गायत्री जैसे सात प्रकार के वैदिक मन्त्रों के सृजन-केन्द्र हैं। गायत्री समस्त मन्त्रों का शुभारम्भ है और श्रीमद्भागवत के प्रथम खण्ड में इसकी व्याख्या हुई है। चूँकि जितने जनन-केन्द्र हैं, वे भगवान् के विराट रूप के विभिन्न अंग हैं और चूँकि भगवान् का रूप भौतिक सृष्टि से परे है, अतएव यह समझना चाहिए कि वाणी, जीभ, त्वचा आदि से यह बोध होता है कि भगवान् का दिव्य रूप इनसे रहित नहीं होता। भौतिक वाणी या भोजन ग्रहण करने की शक्ति मूलतः भगवान् से उत्पन्न होती है। ऐसी क्रियाएँ मूल आगारों के विकृत प्रतिबिम्ब हैं—दिव्य अवस्था भी आध्यात्मिक विविधता से रहित नहीं होती। आध्यात्मिक जगत में भौतिक विविधता के विकृत स्वरूप अपने दिव्य मूल स्वरूप में पूरी तरह दिखते हैं। अन्तर केवल इतना ही होता है कि भौतिक कार्य-कलाप प्रकृति के तीन गुणों से कलुषित हो जाते हैं, जबकि आध्यात्मिक जगत में सारी शक्तियाँ

शुद्ध होती हैं, क्योंकि वे भगवान् की अनन्य दिव्य भक्ति में लगी रहती हैं। आध्यात्मिक जगत में भगवान् प्रत्येक वस्तु के भव्य भोक्ता हैं और सारे जीव भौतिक प्रकृति के गुणों के कल्मष से रहित भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में लगे रहते हैं। आध्यात्मिक जगत के कार्यकलाप भौतिक जगत के किसी भी उन्माद से रहित होते हैं, किन्तु आध्यात्मिक पद पर निर्विशेषवादी जिस निर्विशेष शून्यता की बात करते हैं वहाँ वह नहीं पाई जाती। नारद पञ्चरात्र में भक्तिमय सेवा की परिभाषा इस प्रकार दी गई है—

सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं तत्परत्वेन निर्मलम् ।

हृषीकेण हृषीकेशसेवनं भक्तिरुच्यते ॥

चूँकि मूलतः सारी इन्द्रियाँ भगवान् के इन्द्रिय-आगार से उत्पन्न होती हैं, अतएव भौतिक जगत के कामोद्दीपक कार्यों को भक्ति की विधि से शुद्ध करना होता है और इस तरह हम अपने भौतिक कार्यों की वर्तमान अवस्था को शुद्ध करके जीवन की सिद्धि प्राप्त कर सकते हैं। शुद्धिकरण की यह प्रक्रिया विभिन्न उपाधियों की धारणा से मुक्त होने की अवस्था से प्रारम्भ होती है। प्रत्येक जीव किसी न किसी सेवा में लगा है, चाहे वह अपनी सेवा हो या अपने परिवार, समाज या देश की सेवा हो, लेकिन दुर्भाग्यवश ऐसी सारी सेवाएँ भौतिक आसक्ति के कारण ही सम्पन्न की जाती हैं। भौतिक आसक्तियों को मात्र भगवान् की सेवा में बदल देना चाहिए और इस प्रकार इस भौतिक आसक्ति से मुक्त होने का उपचार स्वतः प्रारम्भ हो जाता है। इस तरह मुक्ति की विधि अन्य सभी विधियों की अपेक्षा भक्तिमय सेवा के माध्यम से सरल है, क्योंकि *भगवद्गीता* (१२.५) में कहा गया है कि यदि कोई निर्विशेष रूप में आसक्त होता है, तो उसे नाना प्रकार के कष्ट उठाने पड़ते हैं—

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।

सर्वासूनां च वायोश्च तन्नासे परमायणे ।

अश्विनोरोषधीनां च घ्राणो मोद-प्रमोदयोः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

सर्व—सभी; असूनाम्—विभिन्न प्रकार की प्राणवायु; च—तथा; वायोः—वायु का; च—भी; तत्—उसकी; नासे—नाक में; परम-आयणे—दिव्य जनन-बिन्दु में; अश्विनोः—अश्विनीकुमार देवताओं का; ओषधीनाम्—समस्त जड़ी-बूटियों का; च—भी; घ्राणः—घ्राण-शक्ति; मोद—आनन्द; प्रमोदयोः—विशिष्ट खेल।

उनके दोनों नथुने हमारे श्वास के तथा अन्य सभी प्रकार के वायु के जनन-केन्द्र हैं; उनकी

घ्राण शक्ति से अश्विनीकुमार तथा समस्त प्रकार की जड़ी-बूटियाँ उत्पन्न होती हैं और उनकी श्वास-शक्ति से विभिन्न प्रकार की सुगन्धियाँ उत्पन्न होती हैं।

रूपाणां तेजसां चक्षुर्दिवः सूर्यस्य चाक्षिणी ।

कर्णौ दिशां च तीर्थानां श्रोत्रमाकाश-शब्दयोः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

रूपाणाम्—सभी प्रकार के रूपों के लिए; तेजसाम्—सभी प्रकाशमानों का; चक्षुः—आँखें; दिवः—चमकने वाला; सूर्यस्य—सूर्य के; च—भी; अक्षिणी—नेत्र-गोलक; कर्णौ—दो कान; दिशाम्—समस्त दिशाओं का; च—तथा; तीर्थानाम्—समस्त वेदों का; श्रोत्रम्—श्रवणेन्द्रिय; आकाश—आकाश; शब्दयोः—सारी ध्वनियों का।

उनके नेत्र सभी प्रकार के रूपों के उत्पत्ति-केन्द्र हैं। वे चमकते हैं तथा प्रकाशित करते हैं। उनकी पुतलियाँ (नेत्र-गोलक) सूर्य तथा दैवी नक्षत्रों की भाँति हैं। उनके कान सभी दिशाओं में सुनते हैं और समस्त वेदों को ग्रहण करनेवाले हैं। उनकी श्रवणेन्द्रिय आकाश तथा समस्त प्रकार की ध्वनियों की उद्गम है।

तात्पर्य : कभी-कभी तीर्थानाम् शब्द की व्याख्या तीर्थस्थलों के रूप में की जाती है, किन्तु श्रील जीव गोस्वामी का कहना है कि यह वैदिक दिव्य ज्ञान के ग्रहण करने के लिए प्रयुक्त है। वैदिक ज्ञान के समर्थकों को तीर्थ कहा भी जाता है।

तद्गात्रं वस्तु-साराणां सौभगस्य च भाजनम् ।

त्वगस्य स्पर्श-वायोश्च सर्व-मेधस्य चैव हि ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

तत्—उसका; गात्रम्—शरीर; वस्तु-साराणाम्—सभी वस्तुओं के सार का; सौभगस्य—समस्त शुभ अवसरों का; च—तथा; भाजनम्—उत्पादन-क्षेत्र; त्वक्—त्वचा; अस्य—उसकी; स्पर्श—स्पर्श; वायोः—गतिशील वायु का; च—भी; सर्व—सभी प्रकार के; मेधस्य—यज्ञों का; च—भी; एव—निश्चय ही; हि—सही-सही।

उनके शरीर की ऊपरी सतह सभी वस्तुओं के सार एवं समस्त शुभ अवसरों की जन्म-स्थली है। उनकी त्वचा गतिशील वायु की भाँति सभी प्रकार के स्पर्श का उद्गम तथा समस्त प्रकार के यज्ञों को सम्पन्न करने का स्थान है।

तात्पर्य : वायु सारे लोकों का गतिशील तत्त्व है, अतएव इच्छित लोकों को जाने के जनन-केन्द्र हैं, ये यज्ञ उनके शरीर का ऊपरी सतह हैं और समस्त शुभ अवसरों के उद्गम हैं।

रोमाण्युद्भिज्ज-जातीनां यैर्वा यज्ञस्तु सम्भृतः ।

केश-श्मश्रु-नखान्यस्य शिला-लोहाभ्र-विद्युताम् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

रोमाणि—देह के रोम; उद्भिज्ज—वनस्पति; जातीनाम्—जातियों का; यैः—जिसके द्वारा; वा—या; यज्ञः—यज्ञ; तु—लेकिन; सम्भृतः—विशेष रूप से सेवित; केश—बाल; श्मश्रु—मूछें; नखानि—नाखून; अस्य—उसका; शिला—पत्थर; लोह—लौह अयस्कों; अभ्र—बादल; विद्युताम्—बिजली ।

उनके शरीर के रोम समस्त प्रकार की वनस्पति के कारण हैं, विशेष रूप से उन वृक्षों के, जो यज्ञ की सामग्री (अवयव) के रूप में काम आते हैं। उनके सिर तथा मुख के बाल बादलों के आगार हैं और उनके नाखून बिजली, पत्थरों तथा लौह अयस्कों के उद्गम-स्थल हैं।

तात्पर्य : भगवान् के चमकदार नाखून बिजली उत्पन्न करते हैं और सारे बादल उनके सिर के बालों पर टिके रहते हैं। अतएव भगवान् के शरीर से जीवन की सभी प्रकार की आवश्यक वस्तुएँ एकत्र की जा सकती हैं। इसीलिए वेद इसकी पुष्टि करते हैं कि भगवान् समस्त उत्पन्न वस्तुओं के कारण हैं। भगवान् समस्त कारणों के परम कारण हैं।

बाहवो लोक-पालानां प्रायशः क्षेम-कर्मणाम् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

बाहवः—भुजाएँ; लोक-पालानाम्—लोकों के अधिपति या देवताओं के; प्रायशः—प्रायः; क्षेम-कर्मणाम्—जन-सामान्य के नेताओं तथा रक्षकों के ।

भगवान् की भुजाएँ बड़े-बड़े देवताओं तथा जनसामान्य की रक्षा करनेवाले अन्य नायकों के उद्गम-स्थल हैं।

तात्पर्य : श्रीमद्भागवत के इस महत्त्वपूर्ण श्लोक की भगवद्गीता (१०.४१-४२) में निम्नलिखित प्रकार से पुष्टि और व्याख्या हुई है—

यद् यद् विभूतिमत् सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।

तद् तद् एवावगच्छ त्वं मम तेजोऽशंसम्भवम् ॥

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन ।

विष्टभ्याहम् इदं कृत्स्नम् एकांशेन स्थितो जगत् ॥

तमाम शक्तिशाली राजा, नेता, वैज्ञानिक, कलाकार, शिल्पी, अन्वेषक, पुरातत्त्वविद्, उद्योगपति,

राजनीतिज्ञ, अर्थशास्त्री, श्रेष्ठ व्यापारी तथा अनेक शक्तिशाली देव यथा ब्रह्मा, शिव, इन्द्र, चन्द्र, सूर्य, वरुण तथा मरुत जैसे देवता, जो अपने-अपने पदों पर विश्व के कार्यों की देख-रेख कर रहे हैं, सभी परमेश्वर के विभिन्न शक्तिशाली अंश हैं। परमेश्वर श्रीकृष्ण उन समस्त जीवों के पिता हैं, जो अपनी-अपनी इच्छाओं-आकांक्षाओं के अनुसार भिन्न-भिन्न उच्च तथा निम्न पदों पर आसीन हैं। उनमें से कुछ, जैसाकि विशेष रूप से ऊपर कहा जा चुका है, भगवान् की इच्छानुसार विशिष्ट शक्ति से सम्पन्न हैं। बुद्धिमान मनुष्य को यह निश्चित रूप से समझ लेना होगा कि जीव, चाहे कितना ही शक्तिशाली क्यों न हो, न तो पूर्ण होता है, न स्वतन्त्र। सारे प्राणियों को इस श्लोक में लिखे अनुसार अपनी विशिष्ट शक्ति का मूल उद्गम स्वीकार करना चाहिए। यदि वे इसके अनुसार कर्म करते हैं, तो वे अपने-अपने वृत्तिपरक कर्मों को करने मात्र से जीवन की सर्वोच्च सिद्धि प्राप्त कर सकते हैं और यह सिद्धि है शाश्वत जीवन, पूर्ण ज्ञान तथा अक्षय आशीष। जब तक विश्व के शक्तिशाली व्यक्ति अपनी-अपनी शक्तियों के उद्गम को अर्थात् भगवान् को स्वीकार नहीं करते, तब तक माया के सारे कार्यकलाप चलते रहेंगे। माया के कार्य ऐसे होते हैं कि शक्तिशाली व्यक्ति भ्रामक भौतिक शक्ति द्वारा दिग्भ्रमित होकर अपने को इस विश्व में सर्वेसर्वा मान बैठता है और ईश-चेतना का विकास नहीं कर पाता। फलस्वरूप संसार में मिथ्या अहंकार-भाव मैं (तथा मेरा) का प्राधान्य हो गया है और अस्तित्व के लिए मानव समाज में कठिन जीवन-स्पर्धा चल रही है। अतएव बुद्धिमान वर्ग के लोगों को चाहिए कि भगवान् को समस्त शक्तियों का चरम स्रोत स्वीकार करें और उनका आशीर्वाद प्राप्त करने के लिए उनको सम्मान प्रदर्शित करें। भगवान् को प्रत्येक वस्तु का परम स्वामी स्वीकार कर लेने से, मनुष्य को जीवन की सर्वोच्च सिद्धि मिल सकती है क्योंकि वे वास्तव में ऐसे हैं। समाज की दृष्टि में मनुष्य का चाहे जो भी स्थान हो, किन्तु यदि वह भगवान् से प्रेम भाव का आदान-प्रदान करने का प्रयत्न करता है और भगवान् के आशीर्वादों से तुष्ट रहता है, तो उसे सर्वाधिक मानसिक शान्ति का अनुभव होता है, जिसके लिए वह जन्म-जन्मान्तर से लालायित रहता है। मानसिक शान्ति तभी प्राप्त की जा सकती है जब मन भगवान् की दिव्य प्रेमा-भक्ति में स्थित हो। भगवान् के अंशों को भगवान् की सेवा करने की विशिष्ट शक्ति प्रदत्त है ठीक उसी तरह जिस तरह श्रेष्ठ व्यापारी के पुत्रों को प्रशासन की विशिष्ट शक्ति

प्राप्त रहती है। आज्ञाकारी पुत्र कभी भी अपने पिता की इच्छा के विरुद्ध कार्य नहीं करता, अतएव वह परिवार के अध्यक्ष अर्थात् पिता की सहमति से अत्यन्त शान्तिपूर्ण जीवन बिताता है। इसी प्रकार चूँकि भगवान् पिता हैं, अतएव सारे जीवों को आज्ञाकारी पुत्रों की भाँति अपना कर्तव्य पूर्ण-रूपेण और सन्तोषजनक तरीके से निभाना चाहिए और पिता की इच्छा पूरी करनी चाहिए। इस प्रवृत्ति से ही मानव समाज में तुरन्त शान्ति तथा सम्पन्नता आ सकेगी।

विक्रमो भूर्भुवः स्वश्च क्षेमस्य शरणस्य च ।

सर्व-काम-वरस्यापि हरेश्चरण आस्पदम् ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

विक्रमः—अगले चरण; भूः भुवः—अधो तथा ऊर्ध्व लोकों के; स्वः—तथा स्वर्ग का; च—भी; क्षेमस्य—हमारे पास जो कुछ है, उसकी सुरक्षा का; शरणस्य—निर्भयता का; च—भी; सर्व-काम—वह सब, जिसकी हमें आवश्यकता पड़ती है; वरस्य—समस्त वरदानों का; अपि—ठीक-ठीक; हरेः—भगवान् के; चरणः—चरणकमल; आस्पदम्—शरण।

भगवान् के अगले डग ऊर्ध्व, अधो तथा स्वर्गलोकों के एवं हमें जो भी चाहिए, उसके आश्रय हैं। उनके चरणकमल सभी प्रकार के भय के लिए सुरक्षा का काम करते हैं।

तात्पर्य : सभी प्रकार के भय से पूर्ण सुरक्षा के लिए तथा जीवन की हमारी जितनी आवश्यकताएँ हैं, उनके लिए हमको न केवल इस लोक में अपितु ऊर्ध्व, अधो तथा स्वर्गलोक में भी भगवान् के चरणकमलों की शरण ग्रहण करनी चाहिए। भगवान् के चरणकमलों पर इस पूर्ण निर्भरता को ही शुद्ध भक्ति-मय सेवा कहते हैं और इस श्लोक में इसका प्रत्यक्ष संकेत किया गया है। इसके विषय में न तो कोई सन्देह होना चाहिए, न किसी को किसी अन्य देवता की शरण ग्रहण करने के लिए उन्मुख होना चाहिए, क्योंकि वे सब भगवान् पर ही आश्रित हैं। भगवान् के अतिरिक्त प्रत्येक जीव भगवान् की दया पर आश्रित है, यहाँ तक कि सर्वव्यापी परमात्मा तक भगवान् के परम स्वरूप पर आश्रित हैं।

अपां वीर्यस्य सर्गस्य पर्जन्यस्य प्रजापतेः ।

पुंसः शिशुन उपस्थस्तु प्रजात्यानन्द-निर्वृतेः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

अपाम्—जल का; वीर्यस्य—वीर्य का; सर्गस्य—सृष्टि का; पर्जन्यस्य—वर्षा का; प्रजापतेः—स्रष्टा का; पुंसः—भगवान् का; शिशुनः—जननांग; उपस्थः तु—गुदा-भाग; प्रजाति—जन्म देने के कारण; आनन्द—आनन्द के; निर्वृतेः—कारण।

भगवान् के जननांगों से जल, वीर्य, सृष्टि, वर्षा तथा प्रजापतियों का जन्म होता है। उनके

जननांग उस आनन्द के कारण-स्वरूप हैं, जिससे जनन के कष्ट का प्रतिकार किया जा सकता है।

तात्पर्य : जननांग तथा जनन का सुख पारिवारिक भार के कष्टों को संतुलित करता रहता है। यदि भगवत्कृपा से जननांगों के ऊपर एक आनन्द-प्रदायक वस्तु का आवरण न हो, तो जनन-क्रिया बन्द हो जाय। यह वस्तु इतना प्रखर आनन्द प्रदान करती है कि इससे पारिवारिक भार का कष्ट भूल जाता है। पुरुष इस आनन्दायक वस्तु से इतना मोहित हो जाता है कि वह एक ही सन्तान को जन्म देकर सन्तुष्ट नहीं होता, अपितु सन्तानों की संख्या बढ़ाता जाता है और इस आनन्दादायक वस्तु के कारण ही उनके पालन-पोषण में कठिनाई उठाने की झंझट अपने सिर पर ले लेता है। किन्तु यह आनन्ददायक वस्तु मिथ्या नहीं होती, क्योंकि यह भगवान् के दिव्य शरीर से निकलती है। दूसरे शब्दों में, आनन्दप्रदायक वस्तु वास्तविकता है, लेकिन भौतिक संसर्ग के कारण इसने भौतिक कल्मष ग्रहण कर लीया है। भौतिक जगत में, भौतिक संसर्ग के कारण विषयी जीवन अनेक दुखों का कारण बनता है। अतएव भौतिक जगत में ऐसे जीवन को आवश्यकता से अधिक प्रोत्साहन नहीं देना चाहिए। भौतिक जगत में भी सन्तान उत्पन्न करने की आवश्यकता है, लेकिन सन्तानोत्पत्ति का कार्य आध्यात्मिक मूल्यों का पूर्ण उत्तरदायित्व निभाते हुए करना होगा। जीवन के आध्यात्मिक मूल्यों को भौतिक जगत में मानव रूप में ही साकार बनाया जा सकता है और मनुष्य को आध्यात्मिक मूल्यों के प्रसंग में ही परिवार-नियोजन करना चाहिए, अन्यथा नहीं। संतति-निरोधक के उपयोग के द्वारा परिवार-नियोजन अत्यन्त घृणित है और भौतिक संदूषण का अत्यन्त स्थूल रूप है। जो भौतिकतावादी इन उपायों का उपयोग करते हैं, वे कृत्रिम विधियों द्वारा जननांग के ऊपर आवरण की आनन्द-शक्ति का पूरा-पूरा उपयोग करना चाहते हैं और इसके आध्यात्मिक महत्त्व को नहीं जानते। और आध्यात्मिक मूल्यों के ज्ञान के बिना, कम बुद्धिमान व्यक्ति जननांगों का उपयोग केवल भौतिक इन्द्रिय आनन्द के लिए करना चाहता है।

पायुर्यमस्य मित्रस्य परिमोक्षस्य नारद ।

हिंसाया निर्ऋतेर्मृत्योर्निरयस्य गुदं स्मृतः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

पायुः—गुदा; यमस्य—मृत्यु का नियामक देव; मित्रस्य—मित्र का; परिमोक्षस्य—मलद्वार का; नारद—हे नारद; हिंसायाः—ईर्ष्या का; निऋतेः—दुर्भाग्य का; मृत्योः—मृत्यु का; निरयस्य—नरक का; गुदम्—गुदा; स्मृतः—समझा जाता है।

हे नारद, भगवान् के विराट रूप का गुदाद्वार मृत्यु के नियामक देव, मित्र, का धाम है और भगवान् की बड़ी आँत का छोर ईर्ष्या, दुर्भाग्य, मृत्यु, नरक आदि का स्थान माना जाता है।

पराभूतेरधर्मस्य तमसश्चापि पश्चिमः ।

नाड्यो नद-नदीनां च गोत्राणामस्थि-संहतिः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

पराभूतेः—उद्विग्नता का; अधर्मस्य—अनैतिकता का; तमसः—अज्ञान का; च—तथा; अपि—भी; पश्चिमः—पीठ; नाड्यः—नसों का; नद—बड़ी नदियों का; नदीनाम्—नालों का; च—भी; गोत्राणाम्—पर्वतों की; अस्थि—हड्डियाँ; संहतिः—संकलन।

भगवान् की पीठ समस्त प्रकार की उद्विग्नता तथा अज्ञान एवं अनैतिकता का स्थान है। उनकी नसों से नदियाँ तथा नाले प्रवाहित होते हैं और उनकी हड्डियों पर बड़े-बड़े पहाड़ बने हैं।

तात्पर्य : पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की निराकार अवधारणा को खंडन करने के लिए यहाँ पर भगवान् के दिव्य शरीर की संरचना का क्रमबद्ध विश्लेषण दिया गया है। भगवान् के शरीर (विराट रूप) के प्राप्य वर्णन से स्पष्ट है कि भगवान् का स्वरूप सामान्य संसारी अवधारणा से भिन्न है। किसी भी दशा में वे निराकार नहीं हैं। चूँकि अज्ञान भगवान् का पृष्ठ भाग (पीठ) है, अतएव अल्पज्ञों का अज्ञान भी भगवान् की शारीरिक अवधारणा से पृथक् नहीं होता। चूँकि उनका शरीर प्रत्येक वस्तु का समग्र रूप है, अतएव कोई यह डींग नहीं हाँक सकता कि वे केवल निर्विशेष हैं। इसके विपरीत, भगवान् के पूर्ण वर्णन से सिद्ध होता है कि वे एकसाथ साकार तथा निर्विशेष दोनों हैं। भगवान् का साकार रूप उनका मूल रूप है और उनका निर्विशेष प्रकाश उनके दिव्य शरीर का प्रतिबिम्ब मात्र है। जो लोग सामने से भगवान् का दर्शन करने का अवसर पाते हैं, वे ही भगवान् के साकार रूप का साक्षात्कार कर सकते हैं। किन्तु जो कुण्ठित हैं और इसलिए भगवान् के अज्ञान पक्ष की ओर रखे जाते हैं, अथवा जो भगवान् का दर्शन पीछे की ओर से करते हैं, वे उनके निर्विशेष रूप का ही साक्षात्कार कर सकते हैं।

अव्यक्त-रस-सिन्धूनां भूतानां निधनस्य च ।

उदरं विदितं पुंसो हृदयं मनसः पदम् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

अव्यक्त—निर्विशेष स्वरूप; रस-सिन्धूनाम्—जल के सागरों का; भूतानाम्—भौतिक जगत में जन्म लेने वालों का; निधनस्य—संहार का; च—भी; उदरम्—उसका पेट; विदितम्—बुद्धिमान लोगों द्वारा ज्ञेय; पुंसः—महापुरुष का; हृदयम्—हृदय; मनसः—सूक्ष्म शरीर का; पदम्—स्थान, पद।

भगवान् का निराकार स्वरूप महासागरों का धाम है और उनका उदर भौतिक दृष्टि से विनष्ट जीवों का आश्रय है। उनका हृदय जीवों के सूक्ष्म भौतिक शरीरों का धाम है। बुद्धिमान लोग इसे इस प्रकार से जानते हैं।

तात्पर्य : भगवद्गीता (८.१७-१८) में कहा गया है कि मनुष्यों की गणना के अनुसार ब्रह्मा का एक दिन चारों युगों के एक हजार युगों के तुल्य (प्रत्येक ४३००००० वर्ष) होता है और ब्रह्मा की रात भी इतनी ही बड़ी होती है। ब्रह्मा ऐसे सौ वर्षों तक जीवित रहते हैं और तब उनकी मृत्यु हो जाती है। ब्रह्मा, जो सामान्यतया भगवान् के बहुत बड़े भक्त हैं, अपनी मृत्यु के बाद ही मुक्ति प्राप्त करते हैं। इस प्रकार ब्रह्माण्ड (ब्रह्माजी द्वारा नियंत्रित फुटबाल जैसा गोलाकार पिण्ड) का संहार हो जाता है और किसी लोक-विशेष के या कि पूरे ब्रह्माण्ड के निवासी भी विनष्ट हो जाते हैं। इस श्लोक में उल्लिखित अव्यक्त शब्द का अर्थ ब्रह्मा की रात है जब आंशिक प्रलय होती है और उस विशेष ब्रह्माण्ड के जीव, यहाँ तक कि ब्रह्मलोक बड़े-बड़े समुद्रों आदि सहित, विराट पुरुष के उदर में आश्रय ग्रहण करते हैं। ब्रह्मा की रात बीतने पर पुनः सृष्टि होती है और भगवान् के उदर में स्थित सारे जीव अपनी-अपनी भूमिका निभाने के लिए छोड़ दिए जाते हैं मानो वे गहरी निद्रा से जगे हों। चूँकि जीव कभी नष्ट नहीं होते, अतएव भौतिक जगत का संहार होने पर जीवों का अस्तित्व नहीं मिटता, लेकिन जब तक मुक्ति प्राप्त नहीं होती, तब तक जीव को एक शरीर त्याग कर पुनः पुनः दूसरा शरीर धारण करना होता है। यह मनुष्य-जीवन शरीर के बारम्बार परिवर्तन का समाधान निकालने के लिए होता है, जिसके फलस्वरूप चिदाकाश में स्थान प्राप्त हो सके जहाँ प्रत्येक वस्तु सच्चिदानन्द स्वरूप है। दूसरे शब्दों में, जीवों के सूक्ष्म रूप परम पुरुष के हृदय में रहते हैं और सृष्टि के समय वे आकार ग्रहण कर लेते हैं।

धर्मस्य मम तुभ्यं च कुमाराणां भवस्य च ।

विज्ञानस्य च सत्त्वस्य परस्यात्मा परायणम् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

धर्मस्य—धार्मिक नियमों का या यमराज का; मम—मेरा; तुभ्यम्—तुम्हारा; च—तथा; कुमाराणाम्—चारों कुमारों का; भवस्य—शिवजी का; च—तथा; विज्ञानस्य—दिव्य ज्ञान का; च—भी; सत्त्वस्य—सत्य का; परस्य—महापुरुष की; आत्मा—चेतना; परायणम्—आश्रित ।

तथापि उस महापुरुष की चेतना धार्मिक सिद्धान्तों का, मेरा, तुम्हारा तथा चारों कुमारों—सनक, सनातन, सनत्कुमार तथा सनन्दन—का निवास-स्थान है। यही चेतना सत्य तथा दिव्य ज्ञान का वास-स्थान है।

अहं भवान् भवश्चैव त इमे मुनयोऽग्रजाः ।

सुरासुर-नरा नागाः खगा मृग-सरीसृपाः ॥ १३ ॥

गन्धर्वाप्सरसो यक्षा रक्षो-भूत-गणोरगाः ।

पशवः पितरः सिद्धा विद्याध्याश्चारणा द्रुमाः ॥ १४ ॥

अन्ये च विविधा जीवा जल-स्थल-नभौकसः ।

ग्रहर्क्ष-केतवस्तारास्तडितः स्तनयित्त्वः ॥ १५ ॥

सर्वं पुरुष एवेदं भूतं भव्यं भवच्च यत् ।

तेनेदमावृतं विश्वं वितस्तिमधितिष्ठति ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

अहम्—मैं; भवान्—आप; भवः—शिवजी; च—भी; एव—निश्चय ही; ते—वे; इमे—सभी; मुनयः—मुनिगण; अग्र-जाः—तुमसे बड़े; सुर—देवता; असुर—असुर; नराः—मनुष्य; नागाः—नागलोक के निवासी; खगाः—पक्षी; मृग—पशु; सरीसृपाः—रेंगनेवाले जीव; गन्धर्व-अप्सरसः, यक्षाः, रक्षः-भूत-गण-उरगाः, पशवः, पितरः, सिद्धाः, विद्याधाः, चारणाः—विभिन्न लोकों के सारे वासी; द्रुमाः—वनस्पति जगत; अन्ये—अन्य अनेक; च—भी; विविधाः—विभिन्न प्रकार के; जीवाः—जीव; जल—जल; स्थल—भूमि; नभ-ओकसः—आकाश के वासी या पक्षी; ग्रह—ग्रह-नक्षत्र; ऋक्ष—प्रभावशाली नक्षत्र; केतवः—पुच्छलतारा; ताराः—सितारे; तडितः—बिजली; स्तनयित्त्वः—बादलों का गर्जन; सर्वम्—हर वस्तु; पुरुषः—भगवान्; एव इदम्—निश्चय ही ये सब; भूतम्—सृष्ट; भव्यम्—जो रचा जायेगा; भवत्—जो रचा जा चुका है; च—भी; यत्—जो कुछ; तेन इदम्—वह सब उनके कारण है; आवृतम्—ढका हुआ; विश्वम्—विश्व; वितस्तिम्—एक बालिशत; अधितिष्ठति—स्थित ।

मुझसे (ब्रह्मा से) लेकर तुम तथा भव (शिव) तक जितने भी बड़े-बड़े ऋषि-मुनि तुमसे पूर्व हुए हैं, वे, देवतागण, असुरगण, नाग, मनुष्य, पक्षी, पशु, सरीसृप आदि तथा समस्त ब्रह्माण्डों की सारी दृश्य-अभिव्यक्तियाँ यथा ग्रह, नक्षत्र, पुच्छलतारे, सितारे, विद्युत, गर्जन तथा विभिन्न लोकों के वासी यथा गन्धर्व, अप्सरा, यक्ष, राक्षस, भूतगण, उरग, पशु, पितर, सिद्ध, विद्याधर, चारण एवं अन्य विविध प्रकार के जीव जिनमें पक्षी, पशु तथा वृक्ष एवं अन्य जो कुछ

हो सकता है, सभी सम्मिलित हैं—वे सभी भूत, वर्तमान तथा भविष्य सभी कालों में भगवान् के विराट रूप द्वारा आच्छादित हैं यद्यपि वे इन सबों से परे रहते हैं और सदैव एक बालिशत आकार के रूप में रहते हैं।

तात्पर्य : भगवान् अपनी आंशिक अभिव्यक्ति द्वारा परमात्मा के रूप में नौ इंच से अधिक माप के नहीं होते। वे अपनी योगमाया से विराट रूप में विस्तार करते हैं, जिसमें चराचर जीवों की विभिन्न किस्मों के रूप में व्यक्त जैविक तथा अजैविक सारी वस्तुएँ आ जाती हैं। अतएव ब्रह्माण्ड की व्यक्त किस्में भगवान् से भिन्न नहीं होतीं, जिस प्रकार विभिन्न रूप-रंग के सुनहले आभूषण स्वर्ण की मूल राशि से भिन्न नहीं होते। दूसरे शब्दों में, भगवान् वह परम पुरुष है, जो सृष्टि के भीतर प्रत्येक वस्तु पर नियन्त्रण रखता है और फिर भी वह समस्त व्यक्त भौतिक सृष्टि से भिन्न पृथक् परम सत्ता बना रहता है। इसीलिए *भगवद्गीता* (९.४-५) में उन्हें योगेश्वर कहा गया है। प्रत्येक वस्तु भगवान् श्रीकृष्ण की शक्ति पर निर्भर है, फिर भी वे ऐसे रूपों से पृथक् और परे रहते हैं। ऋग मन्त्र के वैदिक पुरुष-सूक्त में भी इसकी पुष्टि हुई है। एक ही साथ एकात्म तथा वैभिन्य के इस दार्शनिक सत्य का प्रतिपादन भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु ने किया था और यह *अचिन्त्य भेदाभेद तत्त्व* कहलाता है। ब्रह्मा, नारद तथा अन्य सभी एक ही समय भगवान् के साथ एक तथा उनसे पृथक् हैं। हम सभी उनके साथ उसी तरह हैं जिस तरह सोने के आभूषण गुण में स्वर्णराशि के समान हैं, लेकिन सोने का कोई भी एक आभूषण मात्रा में स्वर्ण-राशि के तुल्य नहीं होता। यह स्वर्ण-राशि कभी समाप्त नहीं होती, चाहे उससे असंख्य आभूषण क्यों न बनाये जाँय, क्योंकि यह राशि पूर्णम् है; यदि पूर्णम् में से पूर्णम् निकाल लिया जाय तो भी परम पूर्णम्, पूर्णम् ही बना रहता है। यह तथ्य हमारी वर्तमान अपूर्ण इन्द्रियों द्वारा अचिन्त्य है। इसीलिए भगवान् चैतन्य अपने दार्शनिक सिद्धान्त को *अचिन्त्य* कहते हैं और जैसाकि *भगवद्गीता* तथा *भागवत* से भी पुष्टि होती है, भगवान् चैतन्य का *अचिन्त्य भेदाभेद तत्त्व* परम सत्य विषयक पूर्ण दर्शन है।

स्व-धिष्यं प्रतपन् प्राणो बहिश्च प्रतपत्यसौ ।

एवं विराजं प्रतपंस्तपत्यन्तर्बहिः पुमान् ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

स्व-धिष्यम्—विकिरण, प्रकाश; प्रतपन्—विस्तार से; प्राणः—प्राण; बहिः—बाहर; च—भी; प्रतपति—प्रकाशित करता है; असौ—सूर्य; एवम्—इस तरह से; विराजम्—विराट स्वरूप; प्रतपन्—के विस्तार से; तपति—जीवन प्रदान करता है; अन्तः—भीतर से; बहिः—बाहर से; पुमान्—परम पुरुष।

सूर्य अपने विकिरणों का विस्तार करके भीतर तथा बाहर प्रकाश वितरित करता है। इसी प्रकार से भगवान् अपने विराट रूप का विस्तार करके इस सृष्टि में प्रत्येक वस्तु का भीतर से तथा बाहर से पालन करते हैं।

तात्पर्य : यहाँ पर भगवान् के विराट रूप का, या उनके निर्विशेष स्वरूप का जो ब्रह्मज्योति कहलाता है, स्पष्ट विवेचन हुआ है और उसकी तुलना सूर्य-प्रकाश के वितरण से की गई है। सूर्य-प्रकाश सारे ब्रह्माण्ड में फैल सकता है, लेकिन सूर्यलोक या सूर्य नारायण, जो कि उसका स्रोत है, वही ऐसे प्रकाश का मूलाधार है। इसी प्रकार भगवान् कृष्ण ब्रह्मज्योति या भगवान् के निर्विशेष स्वरूप के आधार हैं। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (१४.२७) में हुई है। अतएव भगवान् का विराट रूप उनके निर्विशेष स्वरूप की गौण कल्पना है किन्तु मूल स्वरूप तो दो हाथोंवाला अपनी शाश्वत बंशी बजाता श्यामसुन्दर स्वरूप है। भगवान् के वितरित प्रकाश का पचहत्तर प्रतिशत आध्यात्मिक आकाश (*त्रिपाद् विभूति*) में व्यक्त होता है और शेष पचीस प्रतिशत भौतिक ब्रह्माण्डों के समग्र विस्तार को आलोकित करता है। इसकी विवेचना तथा उल्लेख *भगवद्गीता* (१०.४२) में मिलते हैं। इस तरह भगवान् के प्रकाश का पचहत्तर प्रतिशत विस्तार उनकी अन्तरंगा शक्ति कहलाती है और शेष पचीस प्रतिशत बहिरंगा शक्ति कहलाती है। सारे जीव आध्यात्मिक तथा भौतिक विस्तारों के निवासी हैं, वे उनकी *तटस्था शक्ति* कहलाते हैं और उन्हें छूट मिलती है कि चाहे वे बहिरंगा शक्ति में रहें या अन्तरंगा शक्ति में। जो लोग भगवान् के आध्यात्मिक विस्तार की परिधि में रहते हैं, वे मुक्तात्मा कहलाते हैं और जो बाह्य विस्तार में रहते हैं, वे बद्धजीव हैं। हम इन दोनों विस्तारों के निवासियों की संख्या का अनुमान लगा सकते हैं और आसानी से इस तरह इस निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि मुक्तात्माओं की संख्या बद्धजीवों की तुलना में कहीं अधिक है।

सोऽमृतस्याभयस्येशो मर्त्यमन्नं यदत्यगात् ।

महिमैष ततो ब्रह्मन् पुरुषस्य दुरत्ययः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

सः—वह (भगवान्); अमृतस्य—अमरता का; अभयस्य—निर्भयता का; ईशः—नियन्ता; मर्त्यम्—मरणशील; अन्नम्—सकाम कर्म; यत्—जो; अत्यगात्—पार कर गया है; महिमा—यश; एषः—उसका; ततः—अतएव; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण नारद; पुरुषस्य—परम पुरुष का; दुरत्ययः—अमाय्य ।

पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् अमरता तथा निर्भयता के नियन्त्रक हैं और वे मृत्यु तथा भौतिक जगत के सकाम कर्मों से परे हैं। हे नारद, हे ब्राह्मण, इसलिए परम पुरुष के यश का अनुमान लगा पाना कठिन है।

तात्पर्य : भगवान् की अन्तरंगा शक्ति का दिव्य पचहत्तर प्रतिशत भगवान् का यश है, जिसका वर्णन *पद्म पुराण* (उत्तर खण्ड) में हुआ है। उसमें यह बताया गया है कि आध्यात्मिक आकाश भगवान् की अन्तरंगा शक्ति का पचहत्तर प्रतिशत है, जिसमें स्थित लोक भगवान् की बहिरंगा शक्ति से संरचित सम्पूर्ण ब्रह्माण्डों के लोकों से कहीं अधिक विशाल हैं। *चैतन्य-चरितामृत* में भगवान् की बहिरंगा शक्ति के समस्त ब्रह्माण्डों की तुलना बाल्टी भर सरसों के बीजों से की गई है। सरसों का प्रत्येक बीज अपने में एक ब्रह्माण्ड जैसा है। इनमें से एक ब्रह्माण्ड में, जिसमें हम अब रह रहे हैं, लोकों की संख्या की गणना कर पाना मनुष्य की शक्ति के परे है, तो भला हम उन सारे ब्रह्माण्डों के विषय में कैसे सोच सकते हैं, जो बाल्टी भर सरसों के बीजों के तुल्य हैं? यही नहीं, आध्यात्मिक आकाश में लोकों की संख्या भौतिक आकाश की तुलना में कम से कम तीन गुनी अधिक है। ऐसे लोक आध्यात्मिक होने के कारण भौतिक गुणों से परे होते हैं, अतएव वे केवल विशुद्ध सतोगुण से बने हुए होते हैं। इन लोकों में *ब्रह्मानन्द* का बोलबाला रहता है। इनमें से प्रत्येक शाश्वत, अविनाशी तथा भौतिक जगत में अनुभव किये जाने वाले सभी प्रकार के उन्माद से रहित होता है। इनमें से प्रत्येक लोक स्वतःप्रकाशित है और लाखों भौतिक सूर्यों के प्रकाश से (यदि हम अनुमान लगा सकें)—कहीं अधिक चकाचौंध वाला है। उन लोकों के निवासी जन्म, मृत्यु, जरा तथा रोग से मुक्त होते हैं और उन्हें हर वस्तु का पूर्ण ज्ञान होता है। वे सभी भगवद्भावना से युक्त होते हैं और भौतिक तृष्णाओं से रहित होते हैं। उन्हें उन परमेश्वर नारायण की दिव्य प्रेममयी सेवा के अतिरिक्त और कुछ नहीं करना होता, जो ऐसे वैकुण्ठ लोक के प्रमुख श्रीविग्रह हैं। वे मुक्तात्माएँ सामवेद के गीतों के गायन में निरन्तर व्यस्त रहती हैं (वेदैः *साङ्गपदक्रमोपनिषदैर्गायन्ति यं सामगाः*)। वे सब पाँचों उपनिषदों के साक्षात् रूप हैं। *त्रिपाद-विभूति*, जो भगवान् की अन्तरंगा शक्ति का ७५ प्रतिशत है, भगवान् का वह धाम है, जो भौतिक आकाश से

बहुत परे है, किन्तु जब हम *पाद-विभूति* की बात करते हैं, जो भगवान् की बहिरंगा शक्ति का २५ प्रतिशत होता है, भौतिक जगत के गोलक को द्योतित करता है। *पद्म पुराण* में कहा गया है कि त्रिपाद-विभूति का साम्राज्य शाश्वत है, किन्तु *पाद-विभूति* अनित्य है। इस दिव्य साम्राज्य (धाम) में भगवान् तथा उनके शाश्वत सेवकों के स्वरूप शाश्वत होते हैं और वे शुभ, अच्युत, आध्यात्मिक तथा चिर युवा रहते हैं। दूसरे शब्दों में, वहाँ पर जन्म, मृत्यु, जरा तथा रोग नहीं होते। यह शाश्वत स्थान दिव्य आनन्द, सौन्दर्य तथा सुख से पूर्ण रहता है। इसी तथ्य का समर्थन *श्रीमद्भागवत* के इस श्लोक से भी होता है और इसमें दिव्य प्रकृति को अमृत कहा गया है। जैसाकि वेदों में वर्णित है *उतामृतत्वस्येशानः*— परमेश्वर अमरत्व के स्वामी हैं। दूसरे शब्दों में, भगवान् अमर हैं और चूँकि वे अमरत्व के स्वामी हैं, अतएव वे अपने भक्तों को अमरत्व प्रदान कर सकते हैं। *भगवद्गीता* (८.१६) में भगवान् यह भी विश्वास दिलाते हैं कि जो भी उनके इस अमरत्व धाम को जाता है, वह फिर कभी तापमय मर्त्यलोक में नहीं लौटता। भगवान् उस संसारी स्वामी की तरह नहीं हैं, जो न तो कभी अपने अधीनस्थों के साथ समभाव से भोग करता है, न अमर होता है, न अपने अधीनस्थों को वह अमरत्वप्रदान कर सकता है। समस्त जीवों के नायक परमेश्वर अपने भक्तों को सारे गुण प्रदान कर सकते हैं, जिनमें अमरत्व तथा आध्यात्मिक आनन्द भी सम्मिलित हैं। भौतिक जगत में समस्त जीवों के हृदयों में सदैव चिन्ता या भय सवार रहता है, किन्तु भगवान् स्वयं परम निर्भय होने के कारण निर्भयता का यह गुण अपने शुद्ध भक्तों को भी प्रदान करते हैं। संसारी अस्तित्व स्वयं में एक प्रकार का भय होता है, क्योंकि सारे जीव जन्म, मृत्यु, जरा तथा रोग से सदा भयभीत रहते हैं। इस जगत में सदैव काल का प्रभाव बना रहता है, जिससे वस्तुएँ एक अवस्था से दूसरी अवस्था को प्राप्त होती हैं और जो जीव मूलतः *अविकार* होता है, वह समय के प्रभाव से काफी परिवर्तित हो जाता है। किन्तु शाश्वत काल के परिवर्तनशील प्रभाव भगवद्धाम में अनुपस्थित रहते हैं, अतएव यह समझना चाहिए कि उस पर काल का प्रभाव नहीं पड़ता, जिसके कारण वहाँ किसी प्रकार का भय नहीं रहता। भौतिक जगत में तथाकथित सुख मनुष्य के स्वकर्म का फल होता है। कोई मनुष्य अपने कठोर श्रम के बल पर धनवान बन सकता है और ऐसे अर्जित सुख की अवधि के विषय में सदैव भय तथा आशंका बनी रहती है। किन्तु भगवद्धाम में किसी को सुख

प्राप्त करने के लिए प्रयास नहीं करना पड़ता। सुख तो आत्मा का स्वभाव है, जैसाकि वेदान्त सूत्र में कहा गया है *आनन्दमयोऽध्यासात्*—आत्मा स्वभाव से सुखमय है। आत्मा का यह सुख सदैव वर्धित होता रहता है, इस आनन्द के क्षीण होने का प्रश्न ही नहीं उठता। ऐसा अनन्य आध्यात्मिक आनन्द भौतिक ब्रह्माण्ड की परिधि में कहीं प्राप्य नहीं है, यहाँ तक कि जनलोक में या कि महर्लोक या सत्यलोक में भी नहीं, क्योंकि ब्रह्माजी भी सकाम कर्म तथा जन्म-मृत्यु के नियमों से बँधे हैं। इसीलिए यहाँ पर कहा गया है *दुरत्ययः* या दूसरे शब्दों में, भगवद्धाम के आध्यात्मिक सुख की कल्पना बड़े से बड़े ब्रह्मचारी या संन्यासी भी नहीं कर पाते, जो स्वर्ग से परे लोकों को प्राप्त करने के पात्र हैं। अथवा परमेश्वर इतने महान् हैं कि उनकी महानता की कल्पना बड़े-बड़े ब्रह्मचारी या संन्यासी तक नहीं कर पाते, किन्तु भगवत्कृपा से भगवान् के अनन्य भक्त इस सुख को सचमुच प्राप्त करते हैं।

पादेषु सर्व-भूतानि पुंसः स्थिति-पदो विदुः ।

अमृतं क्षेममभयं त्रि-मूर्ध्नोऽधायि मूर्धसु ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

पादेषु—एक चौथाई में; सर्व—सभी; भूतानि—जीव; पुंसः—परम पुरुष का; स्थिति-पदः—समस्त भौतिक ऐश्वर्य का आगार; विदुः—तुम जानो; अमृतम्—अमरत्व; क्षेमम्—सुख, जरा, रोग आदि की चिन्ता से मुक्त.; अभयम्—निर्भयता; त्रि-मूर्ध्नः—तीन उच्चतर लोकों से परे; अधायि—विद्यमान हैं; मूर्धसु—भौतिक आवरणों के पार।

पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् अपनी एक चौथाई शक्ति के द्वारा समस्त भौतिक ऐश्वर्य के परम आगार के रूप में जाने जाते हैं, जिसमें सारे जीव रह रहे हैं। भगवान् का धाम जो तीन उच्चतर लोकों से तथा भौतिक आवरणों से परे स्थित है उस में अमरता, निर्भयता तथा जरा और व्याधि से चिन्तामुक्ति का नित्य निवास है।

तात्पर्य : भगवान् की *सन्धिनी* शक्ति की समग्र अभिव्यक्ति का एक चौथाई भौतिक जगत में प्रदर्शित होता है और तीन चौथाई आध्यात्मिक जगत में। भगवान् की शक्ति के तीन अंग हैं—*सन्धिनी*, *संवित्* तथा *ह्लादिनी*। दूसरे शब्दों में, वे पूर्णतया सच्चिदानन्द-स्वरूप हैं। भौतिक जगत में ऐसे स्वरूप का प्राकट्य कम ही हो पाता है और सारे जीव, जो भगवान् के क्षुद्रांश हैं, सच्चिदानन्द स्वरूप का रंचमात्र आस्वाद केवल मुक्त अवस्था में कर पाते हैं, जबकि बद्ध अवस्था में वे बहुत कठिनाई से यह समझ पाते हैं कि जीवन का वास्तविक ज्ञातव्य तथा शुद्ध सुख क्या है। मुक्तात्माएँ भौतिक जगत में

वास करनेवाली आत्माओं से संख्या में अधिक हैं और वे ही अमरता, निर्भयता एवं जरा एवं व्याधि से मुक्ति के मामले में भगवान् की उपर्युक्त *संधिनी*, *संवित्* तथा *ह्लादिनी* शक्तियों के महत्त्व को समझ सकती हैं।

भौतिक जगत में सारे लोक तीन गोलकों में व्यवस्थित हैं, जिन्हें *त्रिलोक* कहा जाता है। ये हैं स्वर्ग, मर्त्य तथा पाताल। ये सब मिलाकर भगवान् की कुल *संधिनी* शक्ति के एक चौथाई भाग के बराबर हैं। इसके परे आध्यात्मिक आकाश है, जिसमें वैकुण्ठ लोक है, जो सप्तावरणों के परे है। त्रिलोक के किसी भी लोक में अमरता, पूर्ण ज्ञान तथा पूर्ण आनन्द की स्थिति का अनुभव नहीं किया जा सकता। ऊपर के तीन लोक *सात्त्विक* लोक कहलाते हैं, क्योंकि वे दीर्घायु, जरा तथा व्याधि से मुक्ति एवं निर्भयता की प्रासंगिक सुविधा प्रदान करानेवाले हैं। बड़े-बड़े ऋषि-मुनि स्वर्गलोक से आगे स्थित महर्लोक को प्राप्त करते हैं, किन्तु यह भी पूर्ण निर्भयता का स्थान नहीं है, क्योंकि कल्पान्त होने पर महर्लोक का संहार हो जाता है और उसके निवासियों को उच्चतर लोकों में स्थानान्तरण करना होता है। इन लोकों में भी मृत्यु से छुटकारा नहीं मिल पाता। भले ही इनमें अपेक्षतया जीवन, ज्ञान और आनन्द का विस्तार अधिक हो, किन्तु वास्तविक अमरता, निर्भयता तथा जरा और व्याधि से मुक्ति तो सप्तावरणों से परे ही सम्भव है। ऐसी वस्तुएँ सिर में स्थित हैं (*अधायि मूर्धसु*)।

पादास्त्रयो बहिश्चासन्नप्रजानां य आश्रमाः ।

अन्तस्त्रि-लोक्यास्त्वपरो गृह-मेधोऽबृहद्व्रतः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

पादाः त्रयः—भगवान् की शक्ति के तीन चौथाई का जगत; बहिः—इस प्रकार बाहर स्थित; च—तथा; आसन्—थे; अप्रजानाम्—जिनका पुनर्जन्म नहीं होता; ये—जो; आश्रमाः—जीवन के स्तर; अन्तः—भीतर; त्रि-लोक्याः—तीनों जगतों का; तु—लेकिन; अपरः—अन्य; गृह-मेधः—गृहस्थी में आसक्त; अबृहद्व्रतः—कठोर ब्रह्मचर्य व्रत का पालन किये बिना।

आध्यात्मिक जगत, जो भगवान् की तीन चौथाई शक्ति से बना है, इस भौतिक जगत से परे स्थित है और यह उन लोगों के निमित्त है, जिनका पुनर्जन्म नहीं होता। अन्य लोगों को जो गृहस्थ जीवन के प्रति आसक्त हैं और ब्रह्मचर्य व्रत का कठोरता से पालन नहीं करते, तीन लोकों के अन्तर्गत रहना ही होता है।

तात्पर्य : *श्रीमद्भागवत* के इस श्लोक में वर्णाश्रम धर्म या सनातन धर्म की सर्वोच्चता का स्पष्ट

उल्लेख है। मनुष्य को जो सबसे बड़ा लाभ प्रदान किया जा सकता है, वह उसे विषयी जीवन से विरक्त होने की शिक्षा का दान है, क्योंकि विषय-वासना में लिप्त रहने के कारण ही बद्धजीवन जन्म-जन्मांतर चलता रहता है। जिस मानवीय सभ्यता में विषयी जीवन पर कोई नियन्त्रण नहीं होता, वह चतुर्थ कोटि की सभ्यता है, क्योंकि ऐसे वातावरण में भौतिक शरीर में बन्दी आत्मा की मुक्ति सम्भव नहीं है। जन्म, मृत्यु, जरा तथा रोग भौतिक शरीर से जुड़े हैं; उन्हें आत्मा से कुछ भी लेना-देना नहीं होता। किन्तु जब तक ऐन्द्रिय भोग के लिए शारीरिक आसक्ति को प्रोत्साहन मिलता रहता है, तब तक भौतिक शरीर के कारण आत्मा को बाध्य होकर जन्म तथा मृत्यु के चक्कर में आना पड़ता है, जिसकी तुलना वस्त्रों की जीर्णता से की जा सकती है।

मनुष्य जीवन का सर्वोच्च लाभ प्रदान करने के लिए वर्णाश्रम-प्रणाली में अनुयायी को ब्रह्मचारी आश्रम से ही ब्रह्मचर्यव्रत धारण करने की शिक्षा दी जाती है। ब्रह्मचारी-जीवन उन विद्यार्थियों के लिए है, जिन्हें ब्रह्मचर्य का कठोरता से पालन करने की शिक्षा दी जाती है। जिन किशोरों ने विषयी जीवन का आस्वाद नहीं किया, वे सरलतापूर्वक ब्रह्मचर्य व्रत का पालन कर सकते हैं और एक बार इस आश्रम में स्थिर हो जाने पर वे सर्वोच्च सिद्धावस्था तक पहुँचकर भगवान् की तीन चौथाई शक्तिवाले लोक को प्राप्त कर सकते हैं। यह पहले बताया जा चुका है कि भगवान् की तीन चौथाई शक्तिवाले लोक में न तो मृत्यु है, न भय और वहाँ मनुष्य-जीवन आनन्द तथा ज्ञान से ओतप्रोत रहता है। यदि गृहस्थ ब्रह्मचारी जीवन के नियमों में प्रशिक्षित किया जाता है, तो वह सरलता से विषयी जीवन का परित्याग कर सकता है। गृहस्थ को पचास वर्ष की आयु में गृहत्याग करने (*पञ्चशोर्ध्वं वनं व्रजेत्*) और जंगल में जीवन व्यतीत करने की संस्तुति की जाती है। इससे वह पारिवारिक स्नेह से पूर्णतया विरक्त होकर, संन्यासी बनकर पूरी तरह से भगवान् की सेवा में लग सकता है। धार्मिक सिद्धान्तों का कोई भी रूप जिसमें अनुयायियों को ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना सिखलाया जाता है, मानवसमाज के लिए कल्याणकर है, क्योंकि जिन्हें इस प्रकार का प्रशिक्षण मिला है, केवल वे ही संसार के दुखमय जीवन का अन्त कर सकते हैं। भगवान् बुद्ध द्वारा बताये गये निर्वाण के नियम भी दुखमय जीवन का अन्त करने के लिए हैं। और यही विधि यहाँ पर अपने सर्वोत्कृष्ट रूप में *श्रीमद्भागवत* में संस्तुत की

जा रही है, यद्यपि बौद्ध, शंकरवादी तथा वैष्णव विधियों में कोई अन्तर नहीं है। जीवन की सर्वोच्च सिद्धावस्था, जिसमें जन्म, मृत्यु, चिन्ता तथा भय से मिलती है, प्राप्त करने के लिए इनमें से किसी भी विधि में अनुयायी द्वारा ब्रह्मचर्य-व्रत को खण्डित नहीं होने दिया जाता।

जो गृहस्थ तथा व्यक्ति जानबूझ कर ब्रह्मचर्य-व्रत भंग करते हैं, उन्हें अमर लोक में प्रविष्ट होने नहीं दिया जाता। पवित्र गृहस्थ या भ्रष्ट योगी को इसी भौतिक जगत के भीतर उच्चतर लोकों में भेजा जाता है (जो भगवान् की चतुर्थांश शक्ति हैं), किन्तु वे अमरलोक में प्रविष्ट नहीं हो पाते। *अबृहद्-व्रत* वे हैं, जो ब्रह्मचर्य व्रत का खंडन करते हैं। वानप्रस्थ तथा संन्यासी यदि वे इस विधि में सफलता चाहते हैं, इस ब्रह्मचर्य-व्रत को खंडित नहीं कर सकते। ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ तथा संन्यासी न तो पुनर्जन्म चाहते हैं (अप्रज), न ही वे लुक-छिप कर विषयी जीवन में लिप्त होते हैं। ऐसे अध्यात्मवादी भ्रष्ट होने पर विद्वान् ब्राह्मणों या धनी व्यापारियों के परिवार में पुनः मनुष्य-जन्म धारण करते हैं, जिससे वे पुनः ऊपर उठ सकें, किन्तु सबसे अच्छी बात यह होगी कि ज्योंही मनुष्य योनि प्राप्त हो त्योंही अमरता की चरम सिद्धि प्राप्त कर ली जाय, अन्यथा मनुष्य जीवन की सारी नीतिकुशलता असफल हो जायेगी। भगवान् चैतन्य अपने अनुयायियों को ब्रह्मचर्य पालन करने की शिक्षा देने में अत्यन्त कट्टर थे। उन्होंने अपने एक निजी सेवक छोटे हरिदास को ब्रह्मचर्य व्रत पालन न कर सकने के लिए कठोर सजा दी थी। अतएव जो योगी भौतिक दुखों से परे के लोक में जाने का इच्छुक हो उसके लिए जान-बूझकर विषयी जीवन में लिप्त होना आत्मघात के तुल्य होगा और संन्यासी के लिए तो विशेष रूप से। संन्यास आश्रम में विषयी जीवन धार्मिक जीवन का सर्वाधिक विकृत रूप है और ऐसे पथभ्रष्ट व्यक्ति की रक्षा तभी हो सकती है, जब भाग्यवश उसकी भेंट किसी शुद्ध भक्त से हो सके।

सृती विचक्रमे विश्वड् साशनानशने उभे ।

यदविद्या च विद्या च पुरुषस्तूभयाश्रयः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

सृती—जीवों की गति; विचक्रमे—होती है; विश्वड्—सर्वव्यापी भगवान्; साशन—प्रभुता जतानेवाले कार्यकलाप; अनशने—भक्ति के कार्यकलाप; उभे—दोनों; यत्—जो है; अविद्या—अज्ञान; च—भी; विद्या—वास्तविक ज्ञान; च—तथा; पुरुषः—परम पुरुष; तु—लेकिन; उभय—दोनों के लिए; आश्रयः—स्वामी।

सर्व-व्यापी भगवान् अपनी शक्तियों के कारण व्यापक अर्थों में नियन्त्रण-कार्यों के तथा

भक्तिमय सेवा के स्वामी हैं। वे समस्त परिस्थितियों में अविद्या तथा विद्या दोनों के परम स्वामी हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक में *विश्वङ्* शब्द महत्त्वपूर्ण है। जो व्यक्ति कार्य के प्रत्येक क्षेत्र में कुशलतापूर्वक विचरण कर सके, वह *पुरुष* या *क्षेत्रज्ञ* कहलाता है। ये दोनों शब्द आत्मा तथा परमात्मा अर्थात् भगवान् दोनों के लिए समान रूप से लागू होते हैं। *भगवद्गीता* (१३.३) में इसकी व्याख्या इस प्रकार की गई है—

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत ।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ॥

क्षेत्र का अर्थ है स्थान और जो उस स्थान को जानता है, वह *क्षेत्रज्ञ* कहलाता है। आत्मा अपने सीमित कार्यक्षेत्र के बारे में जानता रहता है, लेकिन परमात्मा असीमित कार्य-क्षेत्र के बारे में जानता है। आत्मा अपने ही चिन्तन, अनुभूति तथा आकांक्षाओं के विषय में जानता है, लेकिन परमात्मा परम नियन्ता होने तथा सर्वत्र उपस्थित रहने के कारण हर एक के चिन्तन, अनुभूति तथा आकांक्षाओं को जानते रहते हैं और इस तरह प्रत्येक जीव अपने निजी व्यापारों का सूक्ष्म स्वामी होता है, जबकि भगवान् सबों के भूत, वर्तमान तथा भविष्य के व्यापारों के स्वामी हैं (*वेदाहं समतीतानि*)। जो अज्ञानी है, वही भगवान् तथा जीवों के इस अन्तर को नहीं जानता। जीव संज्ञानहीन जड़ पदार्थ से भिन्न होते हुए गुणात्मक रूप से भगवान् के तुल्य होता है, किन्तु भूत, वर्तमान तथा भविष्य की पूर्ण जानकारी के मामले में, वह कभी भगवान् के समकक्ष नहीं हो सकता।

तथा चूँकि जीव आंशिक रूप से ज्ञाता है, अतएव वह कभी-कभी अपनी पहचान भूल जाता है। यह विस्मृति भगवान् की *एकपाद विभूति* के क्षेत्र में या भौतिक जगत में विशेष रूप से व्यक्त होती है, किन्तु *त्रिपाद विभूति* के कार्य-क्षेत्र में या आध्यात्मिक जगत में जीव में यह विस्मृति नहीं पाई जाती, क्योंकि वे विस्मृति से उत्पन्न होने वाले सभी प्रकार के कल्मषों से मुक्त होते हैं। भौतिक शरीर विस्मृति के स्थूल तथा सूक्ष्म रूपों का प्रतीक है; इसलिए भौतिक जगत का सम्पूर्ण वातावरण अविद्या कहलाता है, जबकि आध्यात्मिक जगत का सारा वातावरण विद्या कहलाता है। इस अविद्या की विभिन्न

अवस्थाएँ हैं और वे धर्म, अर्थ तथा मोक्ष के नाम से जानी जाती हैं। मोक्ष का जो भाव अद्वैतवादियों द्वारा मान्य है और जीव का भगवान् में तदाकार होना बताता है, वह भी भौतिकतावाद या विस्मृति की अन्तिम अवस्था है। आत्मा तथा परमात्मा के गुणात्मक तादात्म्य का ज्ञान अधूरा ज्ञान है तथा अज्ञान है, क्योंकि इससे मात्रात्मक अन्तर का ज्ञान नहीं हो पाता, जैसाकि ऊपर कहा जा चुका है। जीवात्मा कभी भी ज्ञान में भगवान् के तुल्य नहीं हो सकता, अन्यथा वह विस्मृति की अवस्था को प्राप्त न होता। इस तरह, चूँकि जीवात्मा में विस्मृति की अवस्था पाई जाती है, अतएव जीव तथा भगवान् में वैसा ही अन्तर होता है जैसाकि एक अंश तथा पूर्ण में होता है। अंश कभी पूर्ण के बराबर नहीं हो सकता। अतएव भगवान् के साथ जीव की शत-प्रतिशत समता की अवधारणा भी अविद्या है।

अविद्या के क्षेत्र में सारे कार्य प्रकृति पर प्रभुता जताने की दिशा में निर्देशित रहते हैं। अतएव भौतिक जगत में प्रत्येक व्यक्ति प्रभुता जताने के लिए भौतिक ऐश्वर्य अर्जित करने में जुटा रहता है। अतएव सदैव कलह या हताशा व्याप्त रहती है, जो अविद्या के लक्षण हैं। किन्तु ज्ञान के क्षेत्र में भगवान् की भक्तिमय सेवा की जाती है। अतएव भक्ति कार्यों को मुक्त अवस्था में अविद्या के द्वारा दूषित होने का अवसर ही नहीं मिल पाता। इस तरह भगवान् अविद्या तथा विद्या, दोनों ही क्षेत्रों के स्वामी (क्षेत्रज्ञ) हैं और यह तो जीव की रुचि पर निर्भर करता है कि वह इन क्षेत्रों में से किसमें रहे।

यस्मादण्डं विराड् जज्ञे भूतेन्द्रिय-गुणात्मकः ।

तद् द्रव्यमत्यगाद् विश्वं गोभिः सूर्य इवातपन् ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

यस्मात्—जिससे; अण्डम्—ब्रह्माण्ड; विराट्—तथा विराट रूप; जज्ञे—प्रकट हुआ; भूत—तत्त्व; इन्द्रिय—इन्द्रियाँ; गुण-आत्मकः—गुणात्मक; तद् द्रव्यम्—ब्रह्माण्ड तथा विराट रूप आदि.; अत्यगात्—पार कर गया; विश्वम्—समस्त ब्रह्माण्डों को; गोभिः—किरणों से; सूर्यः—सूर्य; इव—सदृश; आतपन्—किरणों तथा ताप को वितरित किया।

भगवान् से सारे ब्रह्माण्ड तथा समस्त भौतिक तत्त्वों, गुणों एवं इन्द्रियों से युक्त विराट रूप उत्पन्न होते हैं। फिर भी वे ऐसे भौतिक प्राकट्यों से उसी तरह पृथक् रहते हैं जिस तरह सूर्य अपनी किरणों तथा ताप से पृथक् रहता है।

तात्पर्य : पिछले श्लोक में परम सत्य को पुरुष या पुरुषोत्तम कहा गया है। परम पुरुष तो अपनी विभिन्न शक्तियों के कारण ईश्वर या परम नियंता होता है। भगवान् की भौतिक शक्ति का एकपाद

विभूति प्राकट्य भगवान् की अनेक दासियों में से एक दासी की तरह है, जिसके प्रति भगवान् अधिक आकृष्ट नहीं होते, जिसे गीता में भिन्ना प्रकृति: कहा गया है। किन्तु त्रिपाद विभूति क्षेत्र भगवान् की शक्ति का शुद्ध आध्यात्मिक प्राकट्य होने के कारण एक प्रकार से उन्हें अधिक आकृष्ट करने वाला है। अतएव भगवान् भौतिक शक्ति को गर्भस्थ करके, भौतिक प्राकट्यों को उत्पन्न करते हैं और इस प्राकट्य में अपने को विश्व-रूप में विस्तारित करते हैं। अर्जुन को दिखाया गया विश्वरूप भगवान् का मूल रूप नहीं है। भगवान् का मूल रूप तो पुरुषोत्तम या साक्षात् कृष्ण का दिव्य रूप है। यहाँ पर बड़े सुन्दर ढंग से बताया गया है कि भगवान् सूर्य की भाँति प्रसार करते हैं। सूर्य अपने असह्य ताप तथा किरणों के द्वारा अपना विस्तार करता है फिर भी सूर्य ऐसी किरणों एवं ताप से सदा पृथक् रहता है। निर्विशेषवादी भगवान् की किरणों पर तो विचार करता है, लेकिन उसे भगवान् के यथार्थ दिव्य नित्य रूप के विषय में कोई जानकारी नहीं होती, जो कृष्ण के नाम से जाना जाता है। अतएव, अपने परम साकार रूप में दो भुजाओं एवं बाँसुरी से युक्त कृष्ण निर्विशेषवादियों को भ्रमित करनेवाले हैं, क्योंकि वे भगवान् के विराट विश्व-रूप को ही देखने के आदी हैं। उन्हें ज्ञान होना चाहिए कि सूर्य की किरणें सूर्य के लिए गौण हैं, उसी तरह भगवान् का निर्विशेष विराट रूप भी साकार पुरुषोत्तम रूप से गौण है। ब्रह्म-संहिता (५.३७) द्वारा इस कथन की पुष्टि निम्न प्रकार से होती है—

आनन्द चिन्मयरसप्रतिभाविताभिस्ताभिर्य एव निजरूपतया कलाभिः ।

गोलोक एव निवसत्यखिलात्मभूतो गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥

“भगवान् गोविन्द, जो अपनी शारीरिक किरणों के द्वारा प्रत्येक व्यक्ति की इन्द्रियों को सजीव बनाते हैं, अपने दिव्य धाम गोलोक में निवास करते हैं। तो भी वे अपनी ह्लादिनी शक्ति के तुल्य प्रसन्न आध्यात्मिक किरणों के प्रसार से अपनी सृष्टि के कोने-कोने में उपस्थित रहते हैं। अतएव वे अपनी अचिन्त्य शक्ति के द्वारा एकसाथ साकार तथा निर्विशेष हैं, अथवा वे अद्वितीय हैं और भौतिक तथा आध्यात्मिक प्राकट्यों की विभिन्नता में पूर्ण एकता प्रदर्शित करते हैं। यद्यपि वे हर वस्तु से पृथक् हैं, फिर भी कोई वस्तु उनसे पृथक् नहीं है।”

यदास्य नाभ्यान्नलिनादहमासं महात्मनः ।

नाविदं यज्ञ-सम्भारान् पुरुषावयवानृते ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

यदा—जब; अस्य—उसकी; नाभ्यात्—नाभि से; नलिनात्—कमल के फूल से; अहम्—मैंने; आसम्—जन्म लिया; महा-
आत्मनः—महापुरुष की; न अविदम्—नहीं जाना; यज्ञ—यज्ञ की; सम्भारान्—सामग्री; पुरुष—भगवान् के; अवयवान्—शरीर
के अंग; ऋते—के बिना।

जब मैं महापुरुष भगवान् (महा-विष्णु) के नाभि-कमल पुष्प से उत्पन्न हुआ था, तो मेरे पास यज्ञ-अनुष्ठानों के लिए उस महापुरुष के शारीरिक अंगों के अतिरिक्त अन्य कोई सामग्री न थी।

तात्पर्य : ब्रह्माण्ड के स्रष्टा ब्रह्माजी स्वयम्भू कहे जाते हैं, जिसका अर्थ है, वह जो माता-पिता के बिना उत्पन्न हुआ हो। सृष्टि का सामान्य नियम यह है कि माता (मादा) तथा पिता (नर) के संसर्ग के फलस्वरूप ही जीव उत्पन्न होता है। किन्तु आदि-जीव ब्रह्मा भगवान् कृष्ण के पूर्ण अंश महाविष्णु के नाभि-कमल से उत्पन्न होते हैं। यह नाभि-कमल भगवान् के शरीर का एक अंग है और ब्रह्माजी इसी कमल से उत्पन्न होते हैं। अतएव ब्रह्माजी भी भगवान् के शरीर के अंग हैं। प्रकट होने के बाद ब्रह्माजी को ब्रह्माण्ड के विराट शून्य में अन्धकार के अतिरिक्त कुछ नहीं दिखा। उन्हें बेचैनी हुई और उनके हृदय में से भगवान् ने उन्हें प्रेरित किया कि वे तपस्या करें, जिससे यज्ञ-अनुष्ठान के लिए सामग्री प्राप्त हो सके। लेकिन, इन दोनों अर्थात् महाविष्णु तथा ब्रह्मा के अलावा वहाँ अन्य कुछ भी न था। यज्ञ अनुष्ठान के लिए अनेक सामग्रियों की, विशेष रूप से पशुओं की, आवश्यकता थी। पशु-यज्ञ कभी भी पशु-हत्या के निमित्त नहीं किया जाता, अपितु यज्ञ को सफल बनाने के लिए किया जाता है। यद्यपि यज्ञ-अग्नि में भेंट किया गया पशु नष्ट हो जाता है, किन्तु पटु पुरोहित द्वारा उच्चारित वैदिक मन्त्रों से अगले क्षण उसे नवीन जीवन प्रदान कर दिया जाता है। जब ऐसा पटु पुरोहित उपलब्ध नहीं होता, तो यज्ञ की बलि-वेदी में पशु-यज्ञ करना वर्जित है। इस तरह ब्रह्मा ने यज्ञ की सामग्री भी गर्भोदकशायी विष्णु के अंगों से ही तैयार की, जिसका अर्थ यह हुआ कि ब्रह्मा ने इस ब्रह्माण्ड की सृष्टि की। यद्यपि कुछ नहीं से कुछ नहीं उत्पन्न होता है, किन्तु भगवान् के शरीर से प्रत्येक वस्तु उत्पन्न होती है। भगवद्गीता (१०.८) में भगवान् कहते हैं—*अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते*—प्रत्येक वस्तु मेरे शारीरिक अंगों से निर्मित है, अतएव मैं ही समस्त सृष्टि का मूल स्रोत हूँ।

निर्विशेषवादियों का तर्क है कि जब प्रत्येक वस्तु साक्षात् भगवान् के अतिरिक्त कुछ नहीं है, तो भगवान् की पूजा करने से क्या लाभ है? किन्तु सगुणवादी बड़ी ही कृतज्ञता के साथ भगवान् की पूजा भगवान् के शारीरिक अंगों से उत्पन्न सामग्री का उपयोग करते हुए करता है। फल तथा फूल पृथ्वी के शरीर से प्राप्त होते हैं, फिर भी बुद्धिमान भक्त पृथ्वी से ही उत्पन्न सामग्री से माता पृथ्वी की पूजा करते हैं। इसी प्रकार माता गंगा की पूजा गंगा-जल से की जाती है, फिर भी पूजक को ऐसी पूजा का फल भोगने को मिलता है। भगवान् की भी पूजा भगवान् के शारीरिक अंगों से उत्पन्न सामग्री द्वारा की जाती है, तो भी पूजक जो स्वयं भगवान् का अंश है भगवान् की भक्ति का फल प्राप्त करता है। एक ओर जहाँ निर्विशेषवादी त्रुटिवश इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि वह साक्षात् भगवान् है, वहीं सगुणवादी कृतज्ञता-पूर्वक भक्ति से भगवान् की पूजा करता है और जानता रहता है कि भगवान् से भिन्न कुछ भी नहीं है। अतएव भक्त प्रत्येक वस्तु को भगवान् की सेवा में लगाना चाहता है, क्योंकि वह यह जानता है कि प्रत्येक वस्तु तो भगवान् की सम्पत्ति है, उसे कोई अपनी नहीं कह सकता। यह एकात्म की पूर्ण धारणा पूजक को भगवान् की प्रेमाभक्ति में रत रहने में सहायक होती है, लेकिन निर्विशेषवादी झूठे ही गर्वित होकर सदा अभक्त बना रहता है और भगवान् कभी उसे मान्यता प्रदान नहीं करते।

तेषु यज्ञस्य पशवः सवनस्पतयः कुशाः ।

इदं च देव-यजनं कालश्चोरु-गुणान्वितः ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

तेषु—ऐसे यज्ञों में; यज्ञस्य—यज्ञ की सम्पन्नता का; पशवः—पशु या यज्ञ की सामग्री; स-वनस्पतयः—फल-फूल सहित; कुशाः—कुश; इदम्—ये सब; च—भी; देव-यजनम्—यज्ञ की वेदी; कालः—उपयुक्त समय; च—भी; उरु—अत्यधिक; गुण-अन्वितः—योग्य।

यज्ञोत्सवों को सम्पन्न करने के लिए फूल, पत्ती, कुश जैसी यज्ञ-सामग्रियों के साथ-साथ यज्ञ-वेदी तथा उपयुक्त समय (वसन्त) की भी आवश्यकता होती है।

वस्तून्योषधयः स्नेहा रस-लोह-मृदो जलम् ।

ऋचो यजूंषि सामानि चातुर्होत्रं च सत्तम ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

वस्तूनि—पात्र; ओषधयः—अन्न; स्नेहाः—घी; रस-लोह-मृदः—शहद, सोना तथा मिट्टी; जलम्—जल; ऋचः—ऋग्वेद; यजूंषि—यजुर्वेद; सामानि—सामवेद; चातुः-होत्रम्—यज्ञ सम्पन्न करनेवाले चार व्यक्ति; च—ये सब; सत्तम—हे परम पवित्र।

यज्ञ की अन्य आवश्यकताएँ हैं—पात्र, अन्न, घी, शहद, सोना, मिट्टी, जल, ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा यज्ञ सम्पन्न करानेवाले चार पुरोहित ।

तात्पर्य : यज्ञ को विधिवत् सम्पन्न करने के लिए कम से कम चार पटु पुरोहितों की आवश्यकता होती है—एक आहुति करनेवाला (*होता*), एक उच्चारण करने वाला (*उद्गाता*), एक अग्नि को पृथक् अग्नि की सहायता के बिना जलानेवाला (*अध्वर्यु*) तथा एक निरीक्षण करनेवाला (*ब्रह्मा*) । ऐसे यज्ञ प्रथम जीव ब्रह्मा के जन्म-काल से ही होते आये हैं और महाराज युधिष्ठिर के शासन-काल तक चलते रहे । किन्तु आज के कलह तथा भ्रष्टाचार के युग में ऐसे पटु ब्राह्मण पुरोहित अत्यन्त दुर्लभ हैं, अतएव इस युग में केवल भगवान् के पवित्र नाम के कीर्तन-यज्ञ की संस्तुति की गई है ।

शास्त्रों का आदेश है—

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम् ।

कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा ॥

नाम-धेयानि मन्त्राश्च दक्षिणाश्च व्रतानि च ।

देवतानुक्रमः कल्पः सङ्कल्पस्तन्त्रमेव च ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

नाम-धेयानि—देवाताओं के नामों का आवाहन; मन्त्राः—देवता-विशेष को अर्पित किये जानेवाले विशिष्ट मन्त्र; च—भी; दक्षिणाः—पुरस्कार; च—तथा; व्रतानि—व्रत; च—तथा; देवता-अनुक्रमः—एक-एक करके सारे देवता; कल्पः—विशिष्ट शास्त्र; सङ्कल्पः—विशिष्ट प्रयोजन; तन्त्रम्—विशिष्ट विधि; एव—वे जैसी हैं; च—भी ।

यज्ञ की अन्य आवश्यकताओं में देवताओं का विभिन्न नामों से विशिष्ट मंत्रों तथा दक्षिणा के व्रतों द्वारा आवाहन सम्मिलित हैं । ये आवाहन विशिष्ट प्रयोजनों से तथा विशिष्ट विधियों द्वारा विशेष शास्त्र के अनुसार होने चाहिए ।

तात्पर्य : यज्ञ करने की पूरी विधि सकाम कर्म के अन्तर्गत आती है और ऐसे कार्य-कलाप अत्यन्त वैज्ञानिक होते हैं । इनमें विशेष स्वर के साथ शब्दोच्चारण करना होता है । यह एक महान् विज्ञान है, किन्तु चार हजार वर्षों से काम में न लाये जाने तथा योग्य ब्राह्मणों के अभाव के कारण ऐसे कृत्य अब प्रभावपूर्ण नहीं रह गये । न ही इस पतित काल में इनकी संस्तुति की जाती है । इस युग में प्रदर्शन के रूप में किया जानेवाला ऐसा यज्ञ चालक पुरोहितों द्वारा मात्र ठगी का कार्य है । अतएव यज्ञों

का ऐसा दिखावा कभी भी प्रभावशाली नहीं हो सकता। सकाम कर्म भौतिक विज्ञान द्वारा और कुछ हद तक स्थूल भौतिक सहायता द्वारा सम्पन्न किये जाते हैं, किन्तु भौतिकतावादी लोग शब्दोच्चारण की विधि में सूक्ष्मतर प्रगति चाहते हैं, जिस पर वैदिक मन्त्रों की स्थापना हुई है। स्थूल भौतिक विज्ञान मानव जीवन के वास्तविक उद्देश्य को नहीं बदल सकता। हाँ, वे जीवन की समस्याओं को हल किये बिना कृत्रिम आवश्यकताओं में वृद्धि अवश्य कर सकते हैं, फलतः भौतिकतावादी जीवन-शैली त्रुटिपूर्ण मानव सभ्यता की ओर ले जाती है। चूँकि जीवन का परम उद्देश्य आध्यात्मिक अनुभूति है, अतएव जैसाकि ऊपर कहा जा चुका है, भगवान् चैतन्य ने भगवान् के पवित्र नाम के आवाहन की प्रत्यक्ष विधि की संस्तुति की है। आधुनिक युग के लोग इस सरल विधि का लाभ उठा सकते हैं, क्योंकि यह जटिल सामाजिक संरचना की परिस्थिति में अपनाए जाने योग्य है।

गतयो मतयश्चैव प्रायश्चित्तं समर्पणम् ।

पुरुषावयवैरेते सम्भाराः सम्भृता मया ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

गतयः—चरम लक्ष्य (विष्णु) की प्राप्ति; मतयः—देवताओं की पूजा; च—भी; एव—निश्चय ही; प्रायश्चित्तम्—पश्चात्ताप; समर्पणम्—अन्तिम रूप से भेंट; पुरुष—भगवान्; अवयवैः—भगवान् के शरीर के अंगों से; एते—ये; सम्भाराः—अवयव, सामग्री; सम्भृताः—आयोजित; मया—मेरे द्वारा।

इस प्रकार मुझे भगवान् के शारीरिक अंगों से ही यज्ञ के लिए इन आवश्यक सामग्रियों की तथा साज-सामान की व्यवस्था करनी पड़ी। देवताओं के नामों के आवाहन से चरम लक्ष्य विष्णु की क्रमशः प्राप्ति हुई और इस प्रकार प्रायश्चित्त तथा पूर्णाहुति पूरी हुई।

तात्पर्य : इस श्लोक में समस्त सामग्रियों के स्रोत के रूप में, भगवान् के व्यक्तिगत स्वरूप पर अधिक बल दिया है, न कि निर्विशेष ब्रह्मज्योति पर। भगवान् नारायण समस्त यज्ञ-फलों के लक्ष्य हैं, अतएव वैदिक मन्त्र अन्ततोगत्वा इसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए होते हैं। इस तरह नारायण को प्रसन्न करके तथा वैकुण्ठधाम में नारायण के प्रत्यक्ष सान्निध्य द्वारा समाधिस्थ होकर जीवन को सफल बनाया जा सकता है।

इति सम्भृत-सम्भारः पुरुषावयवैरहम् ।
तमेव पुरुषं यज्ञं तेनैवायजमीश्वरम् ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; सम्भृत—सम्पन्न किया गया; सम्भारः—अपने को अच्छी तरह तत्पर किया; पुरुष—भगवान्; अवयवैः—अंशों द्वारा; अहम्—मैं; तम् एव—उनके; पुरुषम्—भगवान् को; यज्ञम्—समस्त यज्ञों के भोक्ता को; तेन एव—उन सबके द्वारा ही; अयजम्—पूजा की; ईश्वरम्—परम नियन्ता की।

इस प्रकार मैंने यज्ञ के भोक्ता परमेश्वर के शरीर के अंगों से यज्ञ के लिए सारी सामग्री तथा साज-समान उत्पन्न किये और भगवान् को प्रसन्न करने के लिए मैंने यज्ञ सम्पन्न किया।

तात्पर्य : सामान्य लोग सदैव मनःशान्ति या विश्वशान्ति के लिए चिन्तित रहते हैं, किन्तु वे यह नहीं जान पाते कि विश्व-शान्ति का ऐसा कोई मानक किस तरह प्राप्त किया जाय। ऐसी विश्वशान्ति यज्ञ तथा तप द्वारा प्राप्त की जा सकती है। भगवद्गीता (५.२९) में निम्नलिखित सूत्र दिया गया है :

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।

सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥

“कर्मयोगी जानते हैं कि परमेश्वर समस्त यज्ञों के तथा संयमी जीवन के असली भोक्ता तथा पालक हैं। वे यह भी जानते हैं कि भगवान् समस्त लोकों के परम स्वामी हैं तथा समस्त जीवों के वास्तविक मित्र हैं। ऐसा ज्ञान अनन्य भक्तों की संगति के माध्यम से कर्मयोगी को भगवान् धीरे धीरे शुद्ध भक्त बना देते हैं और इस तरह वे भवबन्धन से मुक्त होने में समर्थ होते हैं।”

इस भौतिक जगत के आदि-जीव ब्रह्मा ने हमें यज्ञ की विधि बतलाई। यज्ञ शब्द अन्य पुरुष की तुष्टि के लिए अपने स्वार्थों के समर्पण का द्योतक है। समस्त कार्यों की यही विधि है। प्रत्येक व्यक्ति दूसरों के लिए अपने हितों की बलि चढ़ाता रहता है, चाहे वह परिवार के रूप में हो, या समाज या जाति अथवा देश या सम्पूर्ण मानव समाज हो। किन्तु ऐसे यज्ञों को पूर्णता तभी प्राप्त होती है, जब वे परम पुरुष भगवान् के निमित्त किये जाते हैं। चूँकि भगवान् प्रत्येक वस्तु के स्वामी, समस्त प्राणियों के सखा, यज्ञकर्ता के पालक एवं यज्ञ-सामग्री के दाता हैं, अतएव समस्त यज्ञों द्वारा केवल उन्हीं को तुष्ट करना चाहिए, अन्य किस को नहीं।

सारा संसार विद्या, सामाजिक उत्थान, आर्थिक विकास तथा मानव दशा को पूर्णतः सुधारने की योजनाओं को समुन्नत बनाने में अपनी शक्ति की आहुति करने में लगा है, किन्तु कोई भी व्यक्ति

भगवान् के निमित्त यज्ञ करने में रुचि नहीं रखता, जिसका उपदेश *भगवद्गीता* में किया गया है। अतएव संसार में शान्ति नहीं है। यदि सारे लोग सचमुच विश्व शान्ति चाहते हैं, तो उन्हें परम स्वामी तथा सबों के सखा के निमित्त यज्ञ सम्पन्न करना चाहिए।

ततस्ते भ्रातर इमे प्रजानां पतयो नव ।

अयजन् व्यक्तमव्यक्तं पुरुषं सु-समाहिताः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; ते—तुम्हारे; भ्रातरः—भाई; इमे—ये; प्रजानाम्—प्राणियों के; पतयः—स्वामी; नव—नौ; अयजन्—यज्ञ किया; व्यक्तम्—प्रकट; अव्यक्तम्—अप्रकट; पुरुषम्—पुरुष को; सु-समाहिताः—उचित अनुष्ठानों से।

हे पुत्र, तत्पश्चात् तुम्हारे नौ भाइयों ने, जो प्रजापति हैं, व्यक्त तथा अव्यक्त दोनों प्रकार के पुरुषों को प्रसन्न करने के लिए समुचित अनुष्ठानों सहित यज्ञ सम्पन्न किया।

तात्पर्य : व्यक्त पुरुषों में स्वर्ग के राजा इन्द्र तथा देवता जैसे उनके पार्षद आते हैं और अव्यक्त पुरुष में साक्षात् भगवान् आते हैं। व्यक्त पुरुष भौतिक कार्यों के नियन्त्रक हैं, जबकि अव्यक्त भगवान् दिव्य हैं और भौतिक व्योम की सीमा के परे हैं। इस कलियुग में व्यक्त देवता भी नहीं दिखते, क्योंकि अन्तरिक्ष-यात्रा पूर्ण रूप से बन्द है। अतएव आधुनिक मनुष्य की ढकी हुई आँखों के लिए शक्तिशाली देवता तथा भगवान् दोनों ही अव्यक्त बने हुए हैं। आधुनिक व्यक्ति प्रत्येक वस्तु को अपनी आँखों से देखना चाहते हैं, भले ही वे पर्याप्त रूप से दक्ष न हों। फलस्वरूप वे देवताओं में या परमेश्वर के अस्तित्व में विश्वास नहीं करते। उन्हें चाहिए कि प्रामाणिक शास्त्रों के पृष्ठों को पलटें और मात्र अपनी अक्षम आँखों पर ही विश्वास न करें। आज भी, ईश्वर-प्रेम रूपी अंजन लगा कर दक्ष आँखों से ईश्वर के दर्शन किये जा सकते हैं।

ततश्च मनवः काले ईजिरे ऋषयोऽपरे ।

पितरो विबुधा दैत्या मनुष्याः क्रतुभिर्विभुम् ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

ततः—तत्पश्चात्; च—भी; मनवः—मानव जाति के पूर्वज, सारे मनु; काले—कालान्तर में; ईजिरे—पूजा की; ऋषयः—ऋषिगण; अपरे—अन्य; पितरः—पुरखे; विबुधाः—विद्वान् पंडित; दैत्याः—देवताओं के महान् भक्त; मनुष्याः—मानव जाति; क्रतुभिः विभुम्—परमेश्वर को प्रसन्न करने के लिए यज्ञों के द्वारा।

तत्पश्चात्, मनुष्यों के पिताओं यानी मनुओं, महर्षियों, पितरों, विद्वान् पंडितों, दैत्यों तथा

मनुष्यों ने परमेश्वर को प्रसन्न करने के निमित्त यज्ञ सम्पन्न किये।

तात्पर्य : दैत्य देवताओं के भक्त होते हैं, क्योंकि वे उनसे अधिकाधिक भौतिक सुविधाएँ हासिल करना चाहते हैं। किन्तु भगवान् के भक्त एकनिष्ठ होते हैं, अर्थात् वे भगवान् की भक्तिमय सेवा में तल्लीन रहते हैं, अतएव उनके पास भौतिक सुविधाएँ माँगने के लिए थोड़ा-सा समय भी नहीं रहता। क्योंकि आध्यात्मिक सत्ता की अनुभूति होने के कारण वे भौतिक सुविधाओं की तुलना में आध्यात्मिक उत्थान की अधिक चिन्ता करते हैं।

नारायणे भगवति तदिदं विश्वमाहितम् ।

गृहीत-मायोरु-गुणः सर्गादावगुणः स्वतः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

नारायणे—नारायण में; भगवति—भगवान्; तत् इदम्—ये समस्त भौतिक अभिव्यक्तियाँ; विश्वम्—सारे ब्रह्माण्ड; आहितम्—स्थित; गृहीत—स्वीकार; माया—भौतिक शक्तियाँ; उरु-गुणः—अत्यन्त शक्तिमान; सर्ग-आदौ—सृजन, पालन तथा संहार में; अगुणः—गुणों के प्रति किसी प्रकार की आसक्ति से रहित; स्वतः—स्वयमेव, आत्म-निर्भरतापूर्वक।

अतएव सारे ब्रह्माण्डों की भौतिक अभिव्यक्तियाँ उनकी शक्तिशाली भौतिक शक्तियों में स्थित हैं, जिन्हें वे स्वतः स्वीकार करते हैं, यद्यपि वे भौतिक गुणों से नित्य निर्लिप्त रहते हैं।

तात्पर्य : इस तरह नारद ने ब्रह्माजी से भौतिक सृष्टि के विषय में जो प्रश्न पूछा था, उसका उत्तर मिल जाता है। भौतिक विज्ञानी जिस रूप में ऊपर से भौतिक क्रियाओं तथा प्रतिक्रियाओं का अवलोकन कर सकता है वे वास्तव में सृजन, पालन तथा संहार के सम्बन्ध में अन्तिम सत्य नहीं होतीं। भौतिक शक्ति भगवान् की शक्ति है, जो यथासमय पर सतो, रजो तथा तमो गुणों को स्वीकार करते हुए विष्णु, ब्रह्मा तथा शिव के रूप में प्रदर्शित की जाती है। इस तरह भौतिक शक्ति भगवान् के पूर्ण नियन्त्रण में कार्य करती है, यद्यपि वे ऐसे भौतिक कार्यकलापों से सदा परे रहनेवाले हैं। कोई धनी व्यक्ति एक बड़े मकान का निर्माण अपने संसाधनों के रूप में अपनी शक्ति व्यय करके करता है। इसी प्रकार, वह अपने संसाधनों से ही एक बड़े मकान को विनष्ट भी कर देता है, किन्तु उसका रख-रखाव सदैव उसकी देखरेख में होता है। भगवान् धनियों में सबसे धनी हैं, क्योंकि वे छहों बड़े ऐश्वर्यों से सदा ओतप्रोत रहते हैं। अतएव उन्हें कुछ करने की आवश्यकता नहीं पड़ती, लेकिन संसार की प्रत्येक घटना उनकी इच्छा तथा उनके निर्देश से स्वयं घटती है, अतएव सम्पूर्ण भौतिक अभिव्यक्ति भगवान्

नारायण में स्थित है। परम सत्य विषयक निर्विशेष धारणा ज्ञान के अभाव के कारण है और इस तथ्य को ब्रह्माजी ने स्पष्ट बताया है, क्योंकि वे ब्रह्माण्ड के कार्यकलापों के स्रष्टा हैं। ब्रह्माजी वैदिक वाङ्मय के सर्वोच्च अधिकारी (प्रमाण) हैं, अतएव इस विषय में उनका कथन परम सूचना के रूप में है।

सृजामि तन्नियुक्तोऽहं हरो हरति तद्वशः ।

विश्वं पुरुष-रूपेण परिपाति त्रि-शक्ति-धृक् ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

सृजामि—सृजन करता हूँ; तत्—उसके द्वारा; नियुक्तः—नियुक्त होकर; अहम्—मैं; हरः—शिवजी; हरति—नाश करता है; तत्-वशः—उनके अधीन; विश्वम्—सम्पूर्ण विश्व का; पुरुष—भगवान्; रूपेण—अपने नित्य रूप से; परिपाति—पालन करता है; त्रि-शक्ति-धृक्—तीन शक्तियों का नियन्त्रक।

उनकी इच्छा से मैं सृजन करता हूँ, शिवजी विनाश करते हैं और स्वयं वे अपने नित्य भगवान् रूप से सबों का पालन करते हैं। वे इन तीनों शक्तियों के शक्तिमान नियामक हैं।

तात्पर्य : यहाँ पर अद्वितीय की धारणा की स्पष्ट पुष्टि होती है। वे वासुदेव भगवान् ही हैं और उनकी विभिन्न शक्तियों एवं अंशों के द्वारा ही विभिन्न अभिव्यक्तियाँ—भौतिक तथा आध्यात्मिक जगत्तों में—पालित होती हैं। भौतिक जगत में भी भगवान् वासुदेव ही सब कुछ हैं जैसाकि *भगवद्गीता* (७.१९) में कहा गया है। *वासुदेवः सर्वम् इति*—सब कुछ वासुदेव ही हैं। वैदिक मंत्रों में भी इन्हीं वासुदेव को सर्वोच्च माना गया है। वेदों का कथन है—*वासुदेवात् परो ब्रह्मन् चान्योऽर्थोऽस्ति तत्त्वतः*—वास्तव में वासुदेव से बढ़कर कोई सत्य नहीं है। और *भगवद्गीता* (७.७) में भगवान् कृष्ण उसी सत्य की पुष्टि करते हैं—*मत्तः परतरं नान्यत्*—मुझसे (कृष्ण से) बढ़कर अन्य कोई नहीं है। इस तरह एकात्म की धारणा, जिस पर निर्विशेषवादी अत्यधिक बल देता है, भगवान् के सगुणवादी भक्त द्वारा भी मान्य है। अन्तर इतना ही है कि निर्विशेषवादी पुरुष स्वरूप को नहीं मानता, जबकि भक्त भगवान् के पुरुष रूप को अधिक महत्त्व प्रदान करता है। *श्रीमद्भागवत* में यह सत्य इसी श्लोक में बताया गया है—भगवान् वासुदेव अद्वितीय हैं, किन्तु सर्व-शक्तिमान होने के कारण वे अपना विस्तार कर सकते हैं और अपनी शक्तियों का प्रदर्शन कर सकते हैं। यहाँ पर भगवान् को तीन शक्तियों द्वारा (*त्रिशक्ति-धृक्*) सर्वशक्तिमान बताया गया है। अतः उनकी तीन शक्तियाँ हैं—अन्तरंगा, तटस्था तथा बहिरंगा। इनमें से बहिरंगा शक्ति सतो, रजो तथा तमो, इन तीन गुणों द्वारा प्रदर्शित होती है। इसी प्रकार

अन्तरंगा शक्ति भी तीन आध्यात्मिक गुणों द्वारा प्रदर्शित होती है। ये हैं—संवित्, संधिनी तथा ह्लादिनी। तटस्था शक्ति या जीव भी आध्यात्मिक है (प्रकृति विद्धि मे पराम्), लेकिन जीव कभी भगवान् के तुल्य नहीं होते। भगवान् निरस्त-साम्य-अतिशय हैं। दूसरे शब्दों में, न कोई भगवान् के तुल्य है, न उनसे बढ़कर। अतएव, सारे जीव जिनमें ब्रह्माजी तथा शिवजी जैसे महापुरुष सम्मिलित हैं, सभी भगवान् के अधीन हैं। भौतिक जगत में भी भगवान् अपने विष्णु-रूप में ब्रह्मा तथा शिव समेत सारे देवताओं का पालन करते हैं तथा उनके सारे कार्यों का नियन्त्रण करते हैं।

इति तेऽभिहितं तात यथेदमनुपृच्छसि ।

नान्यद्भगवतः किञ्चिद्भाव्यं सदसदात्मकम् ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; ते—तुमको; अभिहितम्—बताया; तात—हे पुत्र; यथा—जिस प्रकार; इदम्—ये सब; अनुपृच्छसि—तुमने पूछा है; न—कभी नहीं; अन्यत्—अन्य कुछ; भगवतः—भगवान् से परे; किञ्चित्—कुछ भी; भाव्यम्—कभी सोचने योग्य; सत्—कारण; असत्—कार्य; आत्मकम्—के विषय में।

प्रिय पुत्र, तुमने मुझसे जो कुछ पूछा था, उसको मैंने इस तरह तुम्हें बतला दिया। तुम यह निश्चय जानो कि जो कुछ भी यहाँ है (चाहे वह कारण हो या कार्य, दोनों ही—आध्यात्मिक तथा भौतिक जगतों में) वह पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् पर आश्रित है।

तात्पर्य : भगवान् की शक्तियों का प्राकट्य, चाहे भौतिक हो या आध्यात्मिक, पहले तो कारण-रूप में कार्यशील होता है और गतिमान बनता है और फिर कार्य-रूप में सामने आता है। किन्तु मूल कारण तो पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हैं। मूल कारण के कार्य (प्रभाव) ही अन्य कार्यों के कारण बनते हैं और इस तरह प्रत्येक वस्तु, चाहे वह स्थायी हो या अस्थायी, कारण-कार्य के रूप में कार्य करती है। और चूँकि भगवान् सभी पुरुषों तथा शक्तियों के आदि कारण हैं, अतएव वे समस्त कारणों के कारण कहलाते हैं जिसकी पुष्टि ब्रह्म-संहिता तथा भगवद्गीता दोनों में हुई है।

ब्रह्म-संहिता (५.१) पुष्टि करती है कि—

ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः ।

अनादिराआदिर्गोविन्दः सर्वकारणकारणम् ॥

तथा भगवद्गीता (१०.८) में भी कहा गया है—

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।

इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥

अतएव आदि कारण विग्रह साकार हैं और निर्विशेष आध्यात्मिक तेज, ब्रह्मज्योति, भी परब्रह्म भगवान् कृष्ण का प्रभाव है (ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्) ।

न भारती मेऽङ्ग मृषोपलक्ष्यते

न वै क्वचिन्मे मनसो मृषा गतिः ।

न मे हृषीकाणि पतन्त्यसत्यथे

यन्मे हृदौत्कण्ठ्यवता धृतो हरिः ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; भारती—कथन; मे—मन; अङ्ग—हे नारद; मृषा—असत्य; उपलक्ष्यते—प्रमाणित होता है; न—कभी नहीं; वै—निश्चय ही; क्वचित्—कभी; मे—मेरा; मनसः—मन को; मृषा—असत्य; गतिः—प्रगति; न—न तो; मे—मेरी; हृषीकाणि—इन्द्रियाँ; पतन्ति—पतित होती हैं; असत्-पथे—अस्थायी पदार्थ में; यत्—क्योंकि; मे—मेरे; हृदा—हृदय में; औत्कण्ठ्यवता—महान् उत्कण्ठा के द्वारा; धृतः—धारण किया; हरिः—भगवान् ।

हे नारद, चूँकि मैंने भगवान् हरि के चरणकमलों को अत्यन्त उत्कण्ठा के साथ पकड़ रखा है, अतएव मैं जो कुछ कहता हूँ, वह कभी असत्य नहीं होता। न तो मेरे मन की प्रगति कभी अवरुद्ध होती है, न ही मेरी इन्द्रियाँ कभी भी पदार्थ की क्षणिक आसक्ति से पतित होती हैं।

तात्पर्य : नारद को दी गई वैदिक विद्या के प्रथम वक्ता ब्रह्माजी हैं और नारद अपने विभिन्न शिष्यों सहित व्यासदेव तथा अन्यो के द्वारा इस दिव्य ज्ञान को पूरे विश्व में वितरित करनेवाले हैं। वैदिक ज्ञान के अनुयायी ब्रह्माजी के कथनों को अकाट्य सत्य मानते हैं। इस तरह यह दिव्य ज्ञान सारे संसार में सृष्टि के प्रारम्भ से अनादि काल से शिष्य-परम्परा द्वारा वितरित होता रहा है। ब्रह्माजी इस भौतिक जगत के पूर्ण मुक्त जीव हैं और अध्यात्मज्ञान के किसी भी निष्ठावान जिज्ञासु को ब्रह्माजी के वचनों को अच्युत मानना पड़ेगा। वैदिक ज्ञान अच्युत है, क्योंकि यह परमेश्वर से सीधे ब्रह्मा के हृदय में जाता है और चूँकि ब्रह्माजी सर्वोच्च पूर्ण जीव हैं, अतएव उनके कथन अक्षरशः सत्य होते हैं। ऐसा इसलिए है, क्योंकि वे भगवान् के परम भक्त हैं और उन्होंने भगवान् के चरणकमलों को परम सत्य के रूप में उत्कण्ठा पूर्वक स्वीकार किया है। वे अपने ही द्वारा संकलित ब्रह्म-संहिता में इस सूक्ति को दोहराते हैं—गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि—मैं आदि भगवान् गोविन्द का पूजक हूँ। अतएव वे जो कुछ

कहते हैं, जो भी सोचते हैं और जो भी करते हैं, उसे सत्य मानकर ग्रहण करना चाहिए क्योंकि आदि भगवान् गोविन्द के साथ उनका प्रत्यक्ष एवं अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है। श्रीगोविन्द, जो अपने भक्तों की प्रेममयी सेवा को प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार करते हैं, अपने भक्तों के वचनों तथा कार्यों का प्रतिपालन करते हैं। भगवान् *भगवद्गीता* (९.३१) में कहते हैं—*कौन्तेय प्रतिजानीहि*—हे कुन्तीपुत्र! तुम यह घोषित कर दो। भगवान् अर्जुन से घोषणा करने को कहते हैं, तो क्यों? क्योंकि कभी-कभी साक्षात् गोविन्द की घोषणा संसारी जीवों को विरोधात्मक लग सकती है, किन्तु संसारी व्यक्ति कभी भी भगवद्भक्त के वचनों में कोई विरोधाभास नहीं पायेगा। भगवान् भक्तों की विशेष रूप से इसीलिए रक्षा करते हैं, जिससे वे अच्युत रहें। अतएव भक्तियोग उस भक्त की सेवा से प्रारम्भ होता है, जो शिष्य-परम्परा में होता है। भक्तगण सदैव मुक्त हैं, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं होता कि वे निर्विशेष हैं। भगवान् शाश्वत पुरुष हैं और भगवद्भक्त भी शाश्वत पुरुष है। चूँकि मुक्त अवस्था में भी भक्त की इन्द्रियाँ रहती हैं, अतएव वह सदैव पुरुष रहता है। चूँकि भक्त की सेवा भगवान् द्वारा पूर्ण आदान-प्रदान के रूप में स्वीकार की जाती है, अतएव भगवान् भी अपने पूर्ण आध्यात्मिक शरीर में पुरुष हैं। भक्त की इन्द्रियाँ भगवान् की सेवा में लगी रहने के कारण मिथ्या भौतिक भोग के आकर्षण द्वारा विपथ नहीं होतीं। भक्त की योजनाएँ कभी व्यर्थ नहीं जातीं। इसका कारण है भक्त की भगवान् की सेवा में श्रद्धापूर्ण आसक्ति। सिद्धि तथा मुक्ति का यही मानदण्ड है। ब्रह्माजी से लेकर मनुष्य तक सारे जीव तुरन्त ही मुक्ति के पथ पर अग्रसर होते हैं, यदि उनकी आसक्ति आदि भगवान् श्रीकृष्ण में अपार निष्ठा के साथ होती है। भगवान् *भगवद्गीता* (१४.२६) में इसकी पुष्टि करते हैं :

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।

स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥

अतएव, जो कोई हृदय तथा आत्मा से दिव्य प्रेमाभक्ति के माध्यम से भगवान् के घनिष्ठ सम्पर्क में आने का इच्छुक है, उसके वचन तथा कर्म सदैव अच्युत होंगे। इसका कारण यह है कि परमेश्वर परम सत्य हैं तथा जो भी वस्तु सच्ची निष्ठा से परम सत्य से जोड़ दी जाती है, वह उसी दिव्य गुण को प्राप्त कर लेती है। इसके विपरीत, भौतिक विज्ञान तथा ज्ञान पर आधारित कितना ही मानसिक चिन्तन क्यों

न हो, वह परम सत्य के प्रामाणिक संसर्ग के बिना संसारी असत्य होने से असफल होता है, केवल इसलिए कि उसका संसर्ग परम सत्य के साथ नहीं होता। ऐसे ईश्वर-विहीन अश्रद्धापूर्ण वचन तथा कर्म भौतिक दृष्टि से कितने ही समृद्ध क्यों न हों विश्वास के योग्य नहीं होते। इस महत्त्वपूर्ण श्लोक का यही तात्पर्य है। भक्ति का एक कण भी अश्रद्धा के कई टन से अधिक मूल्यवान है।

सोऽहं समाम्नायमयस्तपोमयः

प्रजापतीनामभिवन्दितः पतिः ।

आस्थाय योगं निपुणं समाहित-

स्तं नाध्यगच्छं यत आत्म-सम्भवः ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

सः अहम्—मैं स्वयं (महान् ब्रह्मा); समाम्नाय-मयः—वैदिक ज्ञान की शिष्य-परम्परा की श्रेणी में; तपः-मयः—समस्त तपस्याओं से युक्त; प्रजापतीनाम्—जीवों के समस्त पुरखों का; अभिवन्दितः—पूज्य; पतिः—स्वामी; आस्थाय—सफलतापूर्वक अभ्यास किया हुआ; योगम्—योगशक्ति; निपुणम्—अत्यन्त पटु; समाहितः—स्वरूप-सिद्ध; तम्—परमेश्वर को; न—नहीं; अध्यगच्छम्—ठीक से समझा; यतः—जिससे; आत्म—स्वयं; सम्भवः—उत्पन्न।

यद्यपि मैं वैदिक ज्ञान की शिष्य-परम्परा में दक्ष महान् ब्रह्मा के रूप में विख्यात हूँ और यद्यपि मैंने सारी तपस्याएँ की हैं तथा यद्यपि मैं योगशक्ति एवं आत्म-साक्षात्कार में पटु हूँ और मुझे सादर प्रणाम करनेवाले जीवों के महान् प्रजापति मुझे इसी रूप में मानते हैं, तो भी मैं उन भगवान् को नहीं समझ सकता, जो मेरे जन्म के मूल उद्गम हैं।

तात्पर्य : इस ब्रह्माण्ड में समस्त जीवों में श्रेष्ठ ब्रह्माजी स्वीकार कर रहे हैं कि वे वैदिक ज्ञान में अपने पाण्डित्य, अपनी तपस्या, योगशक्ति तथा आत्म-साक्षात्कार के बावजूद एवं जीवों के पुरखों, महान् प्रजापतियों द्वारा पूजित होने पर भी, परमेश्वर को जान पाने में अक्षम हैं। अतएव परमेश्वर को जानने के लिए इतनी योग्यताएँ पर्याप्त नहीं हैं। ब्रह्माजी भगवान् को थोड़ा-थोड़ा तब समझ पाये जब वे अपने हृदय की उत्कण्ठा से (हृदौत्कण्ठ्यवता) उनकी सेवा करने का प्रयत्न कर रहे थे, जो भक्तियोग है। अतएव भगवान् को सेवा की निष्ठापूर्ण उत्कण्ठा द्वारा ही जाना जा सकता है, वैज्ञानिक या ज्ञानी होने या योगशक्ति की प्राप्ति की भौतिक योग्यता द्वारा नहीं। इस तथ्य की पुष्टि भगवद्गीता (१८.५४-५५) में स्पष्ट रूप से हुई है :

ब्रह्मभूत प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति ।

समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः ।

ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥

वैदिक ज्ञान, तपस्या आदि उपर्युक्त उच्च योग्यताओं को प्राप्त करके भक्ति-मार्ग में केवल आत्म-साक्षात्कार सहायक बन सकता है। किन्तु भक्ति-मय सेवा के अभाव में मनुष्य अपूर्ण बना रहता है, क्योंकि उस आत्म-साक्षात्कार की स्थिति में भी वह परमेश्वर को ठीक से नहीं जान पाता। आत्म-साक्षात्कार द्वारा मनुष्य भक्त बनने का पात्र हो जाता है और भक्त सेवा-भाव से (भक्त्या) ही क्रमशः भगवान् को जान सकता है, किन्तु विशते (में प्रवेश करता है) का यह गलत आशय नहीं लेना चाहिए कि इससे परमेश्वर के अस्तित्व में लीन होने का निर्देश मिलता है। इस भौतिक जगत में भी मनुष्य भगवान् के अस्तित्व में लीन हो सकता है। कोई भी भौतिकतावादी आत्मा को पदार्थ से विलग नहीं कर सकता, जिस प्रकार कोई अबूझ व्यक्ति दूध से मक्खन विलग नहीं कर सकता, क्योंकि आत्मा भगवान् की बहिरंगा शक्ति में लीन रहता है। भक्ति से (भक्त्या) इस विशते का अर्थ है साक्षात् भगवान् का सात्रिध्य करने में समर्थ होना। भक्ति का अर्थ है भवबन्धन से मुक्त होना और भगवान् की तरह बनकर उनके धाम में प्रवेश करना। भक्तियोग या भक्तों का लक्ष्य अपनी सत्ता खोना नहीं है। मुक्ति के पाँच प्रकार हैं, जिनमें सायुज्य भक्ति भगवान् के अस्तित्व या शरीर में लीन होना है। मुक्ति के अन्य प्रकारों में सूक्ष्म आत्मा की सत्ता बनी रहती है और वह भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में लगी रहती है। भगवद्गीता के श्लोक में विशते शब्द उन भक्तों के लिए आया है, जो किसी प्रकार की मुक्ति के लिए इच्छुक नहीं रहते। भक्तगण अपनी स्थिति की परवाह न करते हुए भगवान् की सेवा में संलग्न रहने मात्र से तुष्ट रहते हैं।

ब्रह्माजी प्रथम जीव हैं, जिन्होंने सीधे भगवान् से वैदिक ज्ञान सीखा (तेने ब्रह्म हृदा य आदि-कवये)। अतः ब्रह्माजी से बढ़कर वेदान्ती कौन विद्वान हो सकता है? किन्तु वे स्वीकार करते हैं कि वेदों का पूर्ण ज्ञान होने पर भी वे भगवान् की महिमाओं को समझने में अक्षम हैं। चूँकि ब्रह्मा से बढ़कर कोई नहीं हो सकता, अतएव तथाकथित वेदान्ती परम सत्य के विषय में कैसे जान सकते हैं ?

अतएव तथाकथित वेदान्ती भक्ति के साथ वेदांत (भक्तिवेदांत) में प्रशिक्षित हुए बिना भगवान् के अस्तित्व में प्रवेश नहीं कर सकते। वेदांत का अर्थ है आत्म-साक्षात्कार और भक्ति का अर्थ है कुछ हद तक भगवान् का साक्षात्कार। भगवान् को कोई भी पूर्णतः नहीं जान सकता लेकिन आत्म-समर्पण तथा भक्ति-भाव से उन्हें कुछ कुछ जाना जा सकता है, अन्य किसी भी विधि से नहीं। ब्रह्म-संहिता में भी कहा गया है—वेदेषु दुर्लभम् अर्थात् वेदान्त के अध्ययन से शायद ही भगवान् के अस्तित्व को जाना जा सके किन्तु भगवान् अदुर्लभम् आत्म-भक्तौ—अपने भक्तों के लिए सहज सुलभ हैं। अतएव श्रील व्यासदेव को वेदान्त सूत्र के संकलन से सन्तोष नहीं हुआ। उन्होंने इसके बाद अपने गुरु नारद के उपदेश से श्रीमद्भागवत का संकलन किया, जिससे वेदान्त के असली आशय को समझा जा सकता है।

नतोऽस्म्यहं तच्चरणं समीयुषां

भवच्छिदं स्वस्त्ययनं सुमङ्गलम् ।

यो ह्यात्म-माया-विभवं स्म पर्यगाद्

यथा नभः स्वान्तमथापरे कुतः ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

नतः—नमस्कार करता हूँ; अस्मि—हूँ; अहम्—मैं; तत्—उस भगवान् के; चरणम्—चरणों पर; समीयुषाम्—शरणागत का; भवत्-छिदम्—जन्म-मरण के चक्र को रोकनेवाला; स्वस्ति-अयनम्—समस्त सुख की अनुभूति; सु-मङ्गलम्—शुभ कल्याणप्रद; यः—जो; हि—निश्चय ही; आत्म-माया—व्यक्तिगत शक्ति; विभवम्—शक्ति; स्म—निश्चय ही; पर्यगात्—अनुमान नहीं लगा सकता; यथा—जिस तरह; नभः—आकाश; स्व-अन्तम्—अपनी सीमा; अथ—अतएव; अपरे—अन्य; कुतः—किस तरह।

अतएव मेरे लिए श्रेयस्कर होगा कि मैं उनके चरणों में आत्म-समर्पण कर दूँ, क्योंकि केवल वे ही मनुष्य को जन्म-मृत्यु के चक्र से उबार सकते हैं। ऐसा आत्म-समर्पण कल्याणप्रद है और इससे समस्त सुख की अनुभूति होती है। आकाश भी अपने विस्तार की सीमाओं का अनुमान नहीं लगा सकता। अतएव जब भगवान् ही अपनी सीमाओं का अनुमान लगाने में अक्षम रहते हैं, तो भला दूसरे क्या कर सकते हैं?

तात्पर्य : जीवों में सर्वाधिक विद्वान्, सर्वोच्च यज्ञकर्ता, सर्वोच्च तपस्वी तथा सर्वोच्च स्वरूपसिद्ध योगी ब्रह्माजी हमें समस्त जीवों के परम गुरु के रूप में उपदेश देते हैं कि सारी सफलता प्राप्त करने के लिए, यहाँ तक कि भौतिक जीवन के कष्टों से मुक्ति पाने तथा कल्याणमय आध्यात्मिक जीवन के लिए भी, हमें भगवान् के चरणकमलों में आत्म-समर्पण करना ही चाहिए। ब्रह्माजी पितामह कहलाते हैं,

अर्थात् वे पिता के भी पिता हैं। एक नवयुवक अपना कर्तव्य पालन करने के लिए अपने अनुभवी पिता से सलाह लेता है, अतएव पिता श्रेष्ठ उपदेशक (सलाहकार) होता है। किन्तु ब्रह्मा सभी के पिताओं के पिता हैं। वे उस मनु के पिता के पिता हैं, जो सारे ब्रह्माण्डों के मनुष्यों के पिता हैं। अतएव इस क्षुद्र लोक के लोगों को ब्रह्मा का आदेश कृपापूर्वक मानना चाहिए और अच्छा यही होगा कि वे भगवान् की शक्तियों की नाप-जोख न करके, उनके चरणकमलों पर आत्म-समर्पण कर दें। उनकी शक्तियाँ असीम हैं, जैसी कि वेदों द्वारा पुष्टि होती है— *परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च* (*श्वेताश्वतर उपनिषद् ६.८*)। वे सबों से बड़े हैं और अन्य लोग, यहाँ तक कि समस्त जीवों में श्रेष्ठ ब्रह्माजी भी, स्वीकार करते हैं कि हमारे लिए सर्वोत्तम यही होगा कि उनकी शरण ग्रहण की जाय। अतएव जो अल्पज्ञ हैं, वे ही अपने को सर्वेसर्वा होने का दावा करते हैं, लेकिन उनकी पहुँच कितनी है? वे एक छोटे से ब्रह्माण्ड के क्षुद्र आकाश की भी लम्बाई-चौड़ाई नहीं माप सकते। तथाकथित भौतिक विज्ञानी कहता है कि उसे ब्रह्माण्ड के सर्वोच्च लोक तक पहुँचने में चालीस हजार वर्ष लगेंगे, यदि वह यह यात्रा अन्तरिक्ष-यान से करे। यह भी काल्पनिक आदर्श है, क्योंकि कोई भी व्यक्ति चालीस हजार वर्ष तक जीवित नहीं रह सकता। इसके अतिरिक्त, जब अन्तरिक्ष-यात्री वापस लौटेगा तो जैसाकि आज के मोहग्रस्त विज्ञानियों में फैशन बन चुका है, सर्वश्रेष्ठ अन्तरिक्ष-यात्री के रूप में उसका स्वागत करने के लिए कोई नहीं होगा। एक विज्ञानी, जो ईश्वर में विश्वास नहीं करता था, अपने भौतिक जीवन की योजनाएँ बनाने के लिए अत्यन्त उत्सुक था, अतएव उसने जीवित व्यक्तियों को बचाने के लिए एक बहुत बड़ा अस्पताल खोला। किन्तु अस्पताल खोलने के छह मास के भीतर ही वह स्वयं मर गया। अतएव मनुष्य को चाहिए कि चौरासी लाख योनियों में शरीर के बारबार बदलने के बाद प्राप्त अपने उस मनुष्य जीवन को, आर्थिक उन्नति तथा वैज्ञानिक ज्ञान के विकास के नाम पर कृत्रिम आवश्यकताएँ बढ़ाकर मनगढ़ंत भौतिक जीवन-सुख के हेतु व्यर्थ न गँवाये। प्रत्युत जीवन के समस्त दुखों को हल करने के लिए भगवान् के चरणों की शरण ग्रहण करे। *भगवद्गीता* में भगवान् कृष्ण का यही आदेश है और *श्रीमद्भागवत* में समस्त जीवों के परम पिता ब्रह्माजी का भी यही आदेश है।

जो व्यक्ति *भगवद्गीता* तथा *श्रीमद्भागवत*, इन दोनों द्वारा संस्तुत आत्म-समर्पण (शरणागति) की इस विधि से इनकार करता है और इस तरह वह समस्त वैध शास्त्रों को नकारता है, तो उसे प्रकृति के नियमों के समक्ष आत्म-समर्पण के लिए बाध्य होना पड़ेगा। अपनी स्वाभाविक स्थिति के अनुसार जीव स्वतन्त्र नहीं है। उसे या तो भगवान् को या प्रकृति को आत्म-समर्पण करना पड़ेगा। प्रकृति भी भगवान् से स्वतन्त्र नहीं है, क्योंकि स्वयं भगवान् ने प्रकृति को मम माया अर्थात् मेरी माया (*भगवद्गीता* ७.१४ में) तथा *मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा* (*भगवद्गीता* ७.४) अर्थात् आठ विभागों वाली मेरी भिन्ना शक्ति कहकर सम्बोधित किया है। अतएव प्रकृति भी भगवान् के वश में है, जैसाकि उन्होंने (*भगवद्गीता* ९.१०) दावा किया है—*मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयतेसचराचरम्*—मेरी अध्यक्षता में, यह प्रकृति कार्य करती है और इस तरह सारी वस्तुएँ गतिशील हैं। जीव पदार्थ की तुलना में श्रेष्ठ (परा) शक्ति होने के कारण, चाहे तो भगवान् को आत्म-समर्पण करे, चाहे प्रकृति को। भगवान् को आत्म-समर्पण करने पर मनुष्य सुखी तथा मुक्त बन जाता है, किन्तु प्रकृति को आत्म-समर्पण करने पर जीव दुख ही दुख उठाता है। अतएव समस्त दुखों के अन्त का अर्थ है भगवान् को आत्म-समर्पण करना, क्योंकि यह आत्म-समर्पण की प्रक्रिया स्वयं ही *भवच्छिदम्* (समस्त भौतिक कष्टों से मुक्ति), *स्वस्त्ययनम्* (समस्त सुख की अनुभूति) तथा *सुमङ्गलम्* (समस्त कल्याण का स्रोत) है।

अतएव भगवान् को आत्म-समर्पण करके ही स्वतन्त्रता, सुख तथा सौभाग्य की प्राप्ति की जा सकती है, क्योंकि वे पूर्ण स्वतन्त्रता, पूर्ण सुख-मय तथा पूर्ण कल्याण-मय हैं। ऐसी मुक्ति तथा सुख असीम भी होते हैं और इनकी तुलना आकाश से की गई है, यद्यपि वे आकाश से भी बढ़कर हैं। हम अपनी वर्तमान स्थिति में इस विशालता को आकाश की तुलना द्वारा समझ जाते हैं। हम आकाश को मापने में असमर्थ हैं, किन्तु भगवान् के सान्निध्य से जो सुख तथा मुक्ति प्राप्त होती है, वह आकाश की तुलना में वृहत्तर है। यह आध्यात्मिक सुख इतना विशाल है कि स्वयं भगवान् भी इसे नहीं माप पाते, अन्यो की तो कोई बात ही नहीं है।

शास्त्रों में कहा गया है—*ब्रह्मसौख्यं त्वनन्तम्*—आध्यात्मिक आनन्द असीम है। यहाँ पर कहा गया है कि भगवान् भी ऐसे सुख को नहीं माप पाते। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि चूँकि भगवान् इसे

माप नहीं सकते, अतएव वे इस दिशा में अपूर्ण हैं। वास्तविक स्थिति यह है कि भगवान् इसे माप सकते हैं, लेकिन भगवान् में जो सुख है, वह परम ज्ञान के कारण भगवान् से अभिन्न भी है। अतएव भगवान् से प्राप्त होनेवाला सुख भगवान् द्वारा मापा जा सकता है, लेकिन यह सुख पुनः बढ़ जाता है और जब भगवान् इसे दुबारा मापते हैं, तो यह सुख और बढ़ता जाता है। इस प्रकार वृद्धि तथा माप में लगातार स्पर्धा चलती है, यहाँ तक कि यह कभी रुकती नहीं और अनन्त रूप से चलती रहती है। आध्यात्मिक सुख *आनन्दाम्बुधि-वर्धनम्* है, अर्थात् सुख का सागर है, जो बढ़ता जाता है। भौतिक समुद्र तो रुका हुआ रहता है, लेकिन आध्यात्मिक समुद्र गतिशील है। कविराज गोस्वामी ने *चैतन्य-चरितामृत* (आदि-लीला, चतुर्थ अध्याय) में भगवान् कृष्ण की ह्लादिनी शक्ति, श्रीमती राधारानी, के दिव्य शरीर में इस आध्यात्मिक सुख के सिन्धु की गतिशील वृद्धि का सुन्दर वर्णन किया है।

नाहं न यूयं यदृतां गतिं विदु-
 नं वामदेवः किमुतापरे सुराः ।
 तन्मायया मोहित-बुद्ध्यस्त्विदं
 विनिर्मितं चात्म-समं विचक्ष्महे ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ

न—न तो; अहम्—मैं; न—न तो; यूयम्—तुम सब मेरे पुत्र; यत्—जिसका; ऋताम्—वास्तविक; गतिम्—गति; विदुः—जानते हैं; न—न तो; वामदेवः—शिवजी; किम्—क्या; उत—और कुछ; अपरे—अन्य; सुराः—देवता; तत्—उसकी; मायया—माया से; मोहित—मुग्ध; बुद्ध्यः—ऐसी बुद्धि से; तु—लेकिन; इदम्—यह; विनिर्मितम्—जो उत्पन्न किया जाता है; च—भी; आत्म-समम्—अपनी शक्ति के बल पर; विचक्ष्महे—देखते हैं।

जब न शिवजी, न तुम और न मैं ही आध्यात्मिक आनन्द की सीमाएँ तय कर सके हैं, तो अन्य देवता इसे कैसे जान सकते हैं? चूँकि हम सभी भगवान् की माया से मोहित हैं, अतएव हम अपनी-अपनी सामर्थ्य के अनुसार ही इस व्यक्त विश्व को देख सकते हैं।

तात्पर्य : हमने अनेक बार बारह चुने हुए प्रामाणिक पुरुषों (द्वादश महाजन) के नामों का उल्लेख किया है, जिनमें ब्रह्मा, नारद तथा शिवजी के नाम उस सूची में क्रमानुसार प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय स्थान पर आते हैं, जो परमेश्वर के विषय में काफी-कुछ जानते हैं। अन्य देवता, उपदेवता, गन्धर्व, चारण, विद्याधर, मनुष्य या असुर सम्भवतः भगवान् श्रीकृष्ण की शक्तियों के विषय में पूरी तरह कभी नहीं जान सकते। इनमें से देवता, उपदेवता, गन्धर्व आदि उच्चतर लोकों के उच्च कोटि के बुद्धिमान

व्यक्ति हैं, मनुष्य मध्य लोक के वासी हैं और असुर अधोलोकों के वासी हैं। इनमें से सबों की परम सत्य-विषयक अपनी-अपनी अवधारणाएँ हैं, जिस प्रकार कि मानव समाज में विज्ञानी या ज्ञानमार्गी दार्शनिकों की होती हैं। ये सारे जीव भौतिक प्रकृति के प्राणी हैं, अतः ये सब प्रकृति के तीन गुणों के चमत्कारिक प्रदर्शन से मोहित होते रहते हैं। ऐसे मोह का उल्लेख *भगवद्गीता* (७.१३) में हुआ है—
*त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्—*प्रत्येक जीव, ब्रह्मा से लेकर चींटी तक प्रकृति के गुणों—सतो, रजो तथा तमो—के द्वारा अपनी-अपनी तरह से मोहित है। हर कोई अपनी व्यक्तिगत क्षमता के अनुसार सोचता है कि हमारे समक्ष व्यक्त यह ब्रह्माण्ड ही सब कुछ है। इसी तरह बीसवीं सदी के मानव समाज का विज्ञानी ब्रह्माण्ड के इति-अथ की गणना अपने ढंग से करता है। लेकिन ऐसे विज्ञानी क्या जान सकेंगे? एक बार ब्रह्मा भी अपने आपको भगवान् का एकमात्र कृपा-पात्र ब्रह्मा मानकर मोहग्रस्त हुए थे, लेकिन बाद में भगवत्कृपा से उन्हें ज्ञात हो सका कि ऐसे असंख्य अधिक शक्तिशाली ब्रह्मा हैं, जो इससे भी बड़े ब्रह्माण्डों में रहते हैं और ये सारे ब्रह्माण्ड मिलकर *एकपाद विभूति* या भगवान् की सृजनात्मक शक्ति का एक चतुर्थांश बनते हैं। उनकी शक्ति का शेष तीन चौथाई अंश आध्यात्मिक जगत में प्रदर्शित होता है, अतएव छोटे से मस्तिष्क वाला एक क्षुद्र विज्ञानी भगवान् श्रीकृष्ण के विषय में क्या जान पायेगा? अतएव भगवान् कहते हैं *मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्—*प्रकृति के गुणों से मोहित होने के कारण वे यह नहीं समझ पाते कि इन अभिव्यक्तियों के परे एक ऐसा परम पुरुष है, जो सबों का परम नियंता है। चूँकि ब्रह्मा, नारद तथा शिव भगवान् के विषय में काफी जानते हैं, अतएव मनुष्य को चाहिए कि वह इन महापुरुषों के उपदेशों का अनुगमन करे, न कि क्षुद्र मस्तिष्क के खिलवाड़पूर्ण अनुसन्धानों से—यथा अन्तरिक्ष यान तथा विज्ञान की अन्य वस्तुओं—से सन्तुष्ट हो। जिस प्रकार माता ही बालक के पिता की पहचान करने में एकमात्र प्रमाण-स्वरूप है, उसी प्रकार ब्रह्मा, नारद या शिव जैसे मान्य अधिकारियों द्वारा प्रस्तुत वेदरूपी माता परम सत्य के विषय में सूचित करने की एकमात्र अधिकारिणी है।

यस्यावतार-कर्माणि गायन्ति ह्यस्मदादयः ।

न यं विदन्ति तत्त्वेन तस्मै भगवते नमः ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

यस्य—जिसका; अवतार—अवतार; कर्माणि—कार्यकलाप; गायन्ति—महिमा का गायन करते हैं; हि—निस्सन्देह; अस्मत्—आदयः—हम जैसे व्यक्ति; न—नहीं; यम्—जिसको; विदन्ति—जानते हैं; तत्त्वेन—शत-प्रतिशत उसी रूप में; तस्मै—उन; भगवते—भगवान् श्रीकृष्ण को; नमः—नमस्कार करता हूँ।

हम उन पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को सादर प्रणाम करते हैं, जिनके अवतारों तथा कार्य-कलापों का गायन हमारे द्वारा उनके महिमा-मण्डन के लिए किया जाता है, यद्यपि वे अपने यथार्थ रूप में बड़ी कठिनाई से ही जाने जा सकते हैं।

तात्पर्य : यह कहा जाता है कि भगवान् के दिव्य नाम, रूप, गुण, लीलाओं, साज-समान, व्यक्तित्व आदि की अनुभूति संभवतः स्थूल भौतिकतावादी इन्द्रियों द्वारा नहीं की जा सकती। किन्तु जब इन्द्रियों को श्रवण, कीर्तन, स्मरण तथा श्रीविग्रह के चरणकमलों की पूजा आदि की प्रक्रिया के द्वारा शुद्ध कर लिया जाता है, तो भगवान् भक्तिमय सेवा की गुणता के अनुसार अपने आपको प्रकट करते हैं (ये यथा मां प्रपद्यन्ते)। मनुष्य को भगवान् से यह उम्मीद नहीं करनी चाहिए कि वे हमारे आदेश पूरक एजेण्ट की भाँति हैं, जो हमारे चाहते ही हमारे समक्ष उपस्थित हो जायेगा। हमें ब्रह्मा, नारद तथा अन्य अधिकारिक शिष्य परम्परा के हमारे पूर्वगामियों द्वारा दिखलाए गये पथ का अनुगमन करते हुए निर्दिष्ट भक्ति-कार्यों को सम्पन्न करने के लिए तत्पर रहना चाहिए। ज्यों-ज्यों प्रामाणिक भक्ति से इन्द्रियाँ क्रमशः शुद्ध होती जाती हैं, त्यों-त्यों भगवान् भक्त की आध्यात्मिक प्रगति के अनुसार अपनी सत्ता का उद्घाटन करते चलते हैं। किन्तु जो भक्ति सम्प्रदाय में नहीं आया है, वह केवल आकलनों और दार्शनिक अनुमानों से उनकी अनुभूति नहीं कर सकता है। ऐसा कठोर-कर्मी भले ही श्रोताओं के समक्ष शब्दजाल प्रस्तुत कर दे, किन्तु वह पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को उनके साकार रूप में कभी नहीं जान सकता। भगवान् ने *भगवद्गीता* में स्पष्ट कहा है कि कोई भी उन्हें केवल भक्ति के द्वारा जान सकता है। कोई भी व्यक्ति किसी आड़ंबर पूर्ण भौतिक चुनौती के द्वारा भगवान् को नहीं जान सकता, लेकिन विनीत भक्त अपने सच्चे भक्ति-कार्यों से भगवान् को प्रसन्न कर सकता है। इस तरह भगवान् भक्त के समक्ष, एक अनुपात में ही प्रकट होते हैं। अतएव ब्रह्माजी प्रामाणिक गुरु के रूप में सादर नमस्कार करते हैं और हमें भी श्रवण तथा कीर्तन की विधि का अनुसरण करने का उपदेश देते हैं। केवल इसी विधि से या भगवान् के अवतार के कार्यकलापों की महिमा के श्रवण तथा कीर्तन से मनुष्य

अपने अन्तःकरण में भगवान् की सत्ता का दर्शन कर सकता है। इस विषय पर श्रीमद्भागवत के प्रथम स्कन्ध में निम्नलिखित श्लोक के प्रसंग पर हम पहले ही व्याख्या कर चुके हैं—

तच्छ्रद्धधाना मुनयो ज्ञानवैराग्ययुक्तया ।

पश्यन्त्यात्मनि चात्मानं भक्त्या श्रुतगृहीतया ॥

(भागवत १.२.१२)

निष्कर्ष यह है कि भगवान् को किसी भी विधि से पूरी तरह नहीं जाना जा सकता, किन्तु वे श्रवण, कीर्तन आदि की भक्ति-विधि द्वारा अंशतः देखे तथा अनुभव किये जा सकते हैं।

स एष आद्यः पुरुषः कल्पे कल्पे सृजत्यजः ।

आत्मात्मन्यात्मनात्मानं स संयच्छति पाति च ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; एषः—वही; आद्यः—आदि भगवान्; पुरुषः—महाविष्णु अवतार, गोविन्द, श्रीकृष्ण के पूर्णांश; कल्पे कल्पे—प्रत्येक कल्प में; सृजति—सृष्टि करता है; अजः—अजन्मा; आत्मा—स्वयं; आत्मनि—स्वयं में; आत्मना—स्वयं से; आत्मानम्—स्वयं को; सः—वह; संयच्छति—लीन कर लेता है; पाति—पालन करता है; च—भी।

वे परम आदि भगवान् श्रीकृष्ण, प्रथम अवतार महाविष्णु के रूप में अपना विस्तार करके इस व्यक्त जगत की सृष्टि करते हैं, किन्तु वे अजन्मा रहते हैं। फिर भी सृष्टि उन्हीं से है, भौतिक पदार्थ तथा अभिव्यक्ति भी वे ही हैं। वे कुछ काल तक उनका पालन करते हैं और फिर उन्हें अपने में समाहित कर लेते हैं।

तात्पर्य : यह सृष्टि भगवान् से अभिन्न है, फिर भी वे सृष्टि में नहीं हैं। भगवद्गीता (९.४) में इसकी व्याख्या इस प्रकार की गई है—

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ।

मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥

परम सत्य की निर्विशेष अवधारणा भी भगवान् का एक रूप है, जिसे अव्यक्त-मूर्ति कहते हैं। मूर्ति का अर्थ है 'रूप', लेकिन चूँकि हमारी सीमित इन्द्रियाँ उनके निर्विशेष स्वरूप का वर्णन नहीं कर पातीं, अतएव वे अव्यक्तमूर्ति हैं और इसी अव्यक्त रूप में सारी सृष्टि स्थित है। अथवा दूसरे शब्दों में, सारी सृष्टि ही साक्षात् भगवान् है और यह सृष्टि उनसे अभिन्न भी है, किन्तु साथ ही आदि भगवान्

श्रीकृष्ण के रूप में वे सृजित जगत से पृथक् हैं। निर्विशेषवादी भगवान् के निर्विशेष रूप पर बल देते हैं और भगवान् के आदि व्यक्तित्व पर विश्वास नहीं करते, किन्तु वैष्णवजन भगवान् के आदि रूप को स्वीकार करते हैं, जिनका निर्विशेष रूप अनेक स्वरूपों में से केवल एक है। भगवान् की साकार तथा निर्विशेष अवधारणाएँ साथ-साथ पाई जाती हैं और *भगवद्गीता* तथा *श्रीमद्भागवत* में तथा अन्य वैदिक शास्त्रों में इस तथ्य का स्पष्ट वर्णन हुआ है। यह विचार मानवबुद्धि के लिए अकल्पनीय है, अतएव इसे शास्त्रों के प्रमाण के आधार पर स्वीकार कर लेना चाहिए। इसकी व्यावहारिक अनुभूति तो भक्ति की प्रगति होने पर ही सम्भव है, किसी मानसिक चिन्तन या शुष्क तर्क के आधार पर नहीं। निर्विशेषवादी अधिकतर शुष्क तर्क पर आश्रित रहते हैं, अतएव वे आदि भगवान् श्रीकृष्ण के विषय में सदैव अन्धकार में रहते हैं। उनकी कृष्ण-विषयक अवधारणा स्पष्ट नहीं हो पाती, यद्यपि यह सारे वैदिक शास्त्रों में स्पष्ट मिलती है। अल्पज्ञान से भगवान् के आदि साकार रूप का अस्तित्व समझ में नहीं आ सकता, क्योंकि भगवान् का सभी वस्तुओं में विस्तार है। यह अपूर्णता न्यूनाधिक इस भौतिक धारणा के कारण है कि जो वस्तु अपने अंशों में वितरित हो जाती है, वह अपने आदि (मूल) रूप में विद्यमान नहीं रह सकती।

आदि भगवान् (*आद्यः*) गोविन्द, महाविष्णु अवतार के रूप में, अपना विस्तार करते हैं और अपने ही द्वारा उत्पन्न किये गये कारणार्णव में विश्राम करते हैं। *ब्रह्म-संहिता* (५.४७) में इसकी पुष्टि इस प्रकार हुई है—

यः कारणार्णवजले भजति स्म योग-

निद्रामनन्तजगदण्डसरोमकूपः

आधारशक्तिमवलम्ब्य परां स्वमूर्तिं

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥

ब्रह्म-संहिता में ब्रह्माजी कहते हैं “मैं आदि भगवान् गोविन्द की पूजा करता हूँ जो अपने पूर्णांश महाविष्णु के रूप में कारणार्णव में शयन करते हैं और जिनके दिव्य शरीर के रोम-कूपों से समस्त ब्रह्माण्ड उत्पन्न होते हैं और जो शाश्वत योगनिद्रा ग्रहण किये रहते हैं।”

अतएव ये महाविष्णु इस सृष्टि के प्रथम अवतार हैं और उन्हीं से सारे ब्रह्माण्ड उत्पन्न होते हैं तथा एक-एक करके सारी भौतिक अभिव्यक्तियाँ उत्पन्न होती हैं। कारणार्णव की उत्पत्ति भगवान् द्वारा महत् तत्त्व के रूप में की जाती है, जो आध्यात्मिक आकाश में बादल के रूप में होता है और उनकी विभिन्न अभिव्यक्तियों में से केवल एक भाग है। आध्यात्मिक आकाश उनकी व्यक्तिगत किरणों का विस्तार है और वे महत् तत्त्व बादल भी हैं। वे लेटे रहते हैं और अपनी श्वास से ब्रह्माण्डों को उत्पन्न करते हैं और फिर गर्भोदकशायी विष्णु के रूप में, प्रत्येक ब्रह्माण्ड में प्रवेश करके, उसके पालन हेतु ब्रह्मा, शिव तथा अन्य अनेक देवताओं की सृष्टि करते हैं तथा अन्त में इन सबों को अपने शरीर में समाहित कर लेते हैं, जैसी कि *भगवद्गीता* (९.७) में पुष्टि हुई है—

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम् ।

कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ॥

“हे कुन्ती-पुत्र! जब कल्प अर्थात् ब्रह्मा की आयु समाप्त होती है, तो सारी सृजित अभिव्यक्तियाँ मेरी प्रकृति अर्थात् शक्ति में प्रवेश कर जाती हैं और जब मैं पुनः इच्छा करता हूँ तो पुनः वही सृष्टि मेरी आत्म-शक्ति से प्रकट होती है।”

निष्कर्ष यह है कि यह सब भगवान् की अचिन्त्य आत्मशक्तियों का प्रदर्शन मात्र है, जिसके विषय में किसी को भी पूरी जानकारी नहीं हो सकती। हम इस बात को पहले भी बता चुके हैं।

विशुद्धं केवलं ज्ञानं प्रत्यक् सम्यगवस्थितम् ।

सत्यं पूर्णमनाद्यन्तं निर्गुणं नित्यमद्वयम् ॥ ४० ॥

ऋषे विदन्ति मुनयः प्रशान्तात्मेन्द्रियाशयाः ।

यदा तदेवासत्तर्कैस्तिरोधीयेत विप्लुतम् ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

विशुद्धम्—भौतिक कल्मष के बिना; केवलम्—शुद्ध तथा पूर्ण; ज्ञानम्—ज्ञान; प्रत्यक्—सर्वव्यापी; सम्यक्—पूर्ण रूप से; अवस्थितम्—स्थित; सत्यम्—सत्य; पूर्णम्—पूर्ण; अनादि—जिसका आदि न हो; अन्तम्—जिसका अन्त न हो; निर्गुणम्—गुणों से रहित; नित्यम्—शाश्वत; अद्वयम्—अद्वितीय; ऋषे—हे ऋषि नारद; विदन्ति—समझ सकते हैं; मुनयः—बड़े-बड़े विचारक; प्रशान्त—शान्त-चित्त; आत्म—स्वयं; इन्द्रिय—इन्द्रियाँ; आशयाः—शरणागत; यदा—जब; तत्—वह; एव—निश्चय ही; असत्—न लागू होनेवाला; तर्कैः—तर्कों द्वारा; तिरः-धीयेत—विलुप्त हो जाता है; विप्लुतम्—विकृत।

भगवान् पवित्र हैं और भौतिक क्लेश के समस्त कल्मष से रहित हैं। वे परम सत्य हैं और साक्षात् पूर्ण ज्ञान हैं। वे सर्वव्यापी, अनादि, अनन्त तथा अद्वय हैं। हे नारद, हे ऋषि, बड़े-बड़े

मुनि उन्हें तभी जान सकते हैं, जब वे समस्त भौतिक लालसाओं से मुक्त हो जाते हैं और अविचलित इन्द्रियों की शरण ग्रहण कर लेते हैं। अन्यथा व्यर्थ के तर्कों से सब कुछ विकृत हो जाता है और भगवान् हमारी दृष्टि से ओझल हो जाते हैं।

तात्पर्य : यहाँ पर क्षणिक भौतिक सृष्टियों में भगवान् के दिव्य कार्यकलापों के अतिरिक्त भगवान् का मूल्यांकन किया गया है। मायावादी दर्शन भगवान् को, जब वे अवतरित होते हैं, भौतिक शरीर से कलुषित हुआ बताता है। यहाँ पर भगवान् की स्थिति को सभी परिस्थितियों में शुद्ध तथा विशुद्ध कहकर इस प्रकार की व्याख्या को पूर्णतया अस्वीकार किया गया है। मायावाद दर्शन के अनुसार, अज्ञान से आच्छादित आत्मा को जीव की संज्ञा प्रदान की जाती है, किन्तु जब वह इस अज्ञान या अविद्या से मुक्त हो जाता है, तो परम सत्य के निर्विशेष स्वरूप में लीन हो जाता है। किन्तु यहाँ पर यह कहा गया है कि भगवान् पूर्णज्ञान के शाश्वत प्रतीक हैं। यह तो उनकी विशिष्टता है कि वे समस्त भौतिक कल्मष से पूर्ण रूप से मुक्त हैं। यह विशेषता सामान्य जीवों से भगवान् को पृथक् करती है, क्योंकि जीवों में अज्ञान के वशीभूत होने की प्रवृत्ति पाई जाती है और इस तरह वे भौतिक उपाधियाँ ग्रहण करते हैं। वेदों में कहा गया है कि भगवान् *विज्ञानम् आनन्दम्* हैं अर्थात् ज्ञान तथा आनन्द से पूर्ण हैं। बद्धजीवों की तुलना उनसे नहीं की जा सकती, क्योंकि जीवों में *कल्मष-ग्रस्त* होने की प्रवृत्ति पाई जाती है। यद्यपि मुक्ति के बाद जीव भी भगवान् जैसा गुण ग्रहण कर सकता है, किन्तु कल्मषग्रस्त होने की प्रवृत्ति के कारण ही जो प्रवृत्ति भगवान् में नहीं होती जीव भगवान् से भिन्न है। वेदों में कहा गया है: *शुद्धम् अपापविद्धम्*—जीवात्मा पाप से दूषित हो जाता है, लेकिन भगवान् पापों से कभी दूषित नहीं होते। भगवान् की उपमा शक्तिशाली सूर्य से दी गई है। सूर्य शक्तिमान होने कारण किसी प्रकार संक्रमणसे-ग्रस्त नहीं होता। इसके विपरीत, सूर्य की किरणों से संदूषित वस्तुएँ विसंक्रमित हो जाती हैं। इसी तरह भगवान् पापों से कल्मषग्रस्त नहीं होते, अपितु पापी जीव उनके संसर्ग में आकर पवित्र हो जाते हैं। इसका अर्थ हुआ कि भगवान् भी सूर्य के समान सर्वव्यापी हैं। फलस्वरूप इस श्लोक में *प्रत्यक्* शब्द व्यवहृत हुआ है। भगवान् की शक्ति के विस्तारों में किसी वस्तु को बहिष्कृत नहीं किया जा सकता। भगवान् सबके भीतर हैं और व्यक्तिगत जीव के कार्यकलापों से प्रभावित हुए बिना वे

सबको आच्छादित करनेवाले हैं। अतएव वे असीम हैं और जीव अतिसूक्ष्म हैं। वेदों में कहा गया है कि अकेले भगवान् का ही अस्तित्व है और अन्य सबका अस्तित्व उन पर निर्भर है। वे हर एक की अस्तित्व-क्षमता के जनन-आगार हैं, वे समस्त निरपेक्ष सत्यों के परम सत्य हैं। वे प्रत्येक जीव के ऐश्वर्य के स्रोत हैं, अतएव ऐश्वर्य में कोई उनकी समता नहीं कर सकता। समस्त ऐश्वर्यों—धन, यश, बल, सौन्दर्य, ज्ञान तथा त्याग—से पूर्ण होने के कारण निश्चित ही वे परम पुरुष हैं। चूँकि वे पुरुष हैं, अतएव उनमें अनेक व्यक्तिगत गुण हैं, भले ही वे भौतिक गुणों से परे होते हैं। हम पहले ही *इत्थं भूतगुणो हरिः* (*भागवत १.७.१०*) इस कथन की व्याख्या कर चुके हैं। उनके दिव्य गुण इतने आकर्षक हैं कि आत्माराम तक उनसे आकृष्ट होते हैं। यद्यपि वे समस्त निजी गुणों से युक्त हैं, तो भी वे सर्वशक्तिमान हैं। अतएव उन्हें कुछ करना नहीं पड़ता, क्योंकि उनकी सर्वशक्तिसम्पन्न शक्तियों से सब कुछ सम्पन्न हो जाता है। इसकी भी पुष्टि वैदिक मन्त्र द्वारा हुई है—*परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च*। इससे भगवान् के विशिष्ट आध्यात्मिक रूप का संकेत मिलता है, जो भौतिक इन्द्रियों द्वारा कभी अनुभूत नहीं होता। उनका दर्शन तभी किया जा सकता है, जब इन्द्रियाँ भक्तिमय सेवा द्वारा शुद्ध हो जाती हैं (*यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः*)। इस तरह भगवान् तथा जीवों में कई बातों में अन्तर है। किसी की तुलना भगवान् से नहीं की जा सकती, जैसाकि वेदों की घोषणा है (*एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म, द्वैताद्वै भयं भवति*)। भगवान् का कोई प्रतियोगी नहीं है, अतएव उन्हें किसी से न तो भय है, न कोई उनके समान हो सकता है। यद्यपि वे समस्त जीवों के मूल कारण हैं, किन्तु उनमें तथा अन्य जीवों में मूलभूत अन्तर है। अन्यथा पिछले श्लोक में यह कहने की आवश्यकता न होती कि कोई उन्हें शत-प्रतिशत यथार्थ रूप में नहीं जान सकता (*न यं विदन्ति तत्त्वेन*)। इस श्लोक में यह भी बताया गया है कि उन्हें कोई भी पूर्ण रूप से नहीं जान सकता, लेकिन कुछ हद तक उन्हें समझ पाने के लिए योग्यताओं का उल्लेख किया गया है। केवल *प्रशान्त* अर्थात् भगवान् के विशुद्ध भक्त ही उन्हें काफी हद तक जान पाने में समर्थ हो पाते हैं। इसका कारण यह है कि भक्तों को किसी वस्तु की कामना नहीं होती। वे तो उनके आज्ञाकारी दास बने रहना चाहते हैं, लेकिन अन्य लोगों को—ज्ञानमार्गी दर्शनिक, योगी तथा सकाम-कर्मी—कुछ न कुछ माँग रहती है, अतएव वे प्रशान्त नहीं हो सकते।

सकाम-कर्मी अपने कर्म का पुरस्कार चाहते हैं, योगी जीवन की कोई सिद्धि चाहते हैं और ज्ञानमार्गी दार्शनिक भगवान् के अस्तित्व में लीन होना चाहते हैं। किन्तु जब तक इन्द्रियतृप्ति की माँग बनी रहती है, तब तक प्रशान्त होने का अवसर नहीं आ पाता। इसके विपरीत, अनावश्यक शुष्क तर्कों से सारा मामला बिगड़ जाता है और इस तरह भगवान् हमारी समझ से और भी दूर होते जाते हैं। किन्तु शुष्क चिन्तक तपस्या के सिद्धान्तों का पालन करते रहने से भगवान् के निर्विशेष स्वरूप को कुछ हद तक जान सकते हैं, फिर भी वे उनके परम गोविन्द स्वरूप को नहीं समझ सकते, क्योंकि जो पूर्ण रूप से निष्पाप हैं या *अमलात्मन* हैं, वे ही भगवान् की शुद्ध भक्ति को अंगीकार करते हैं, जिसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (७.२८) में हुई है :

येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम् ।

ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ॥

आद्योऽवतारः पुरुषः परस्य

कालः स्वभावः सदसन्मनश्च ।

द्रव्यं विकारो गुण इन्द्रियाणि

विराट् स्वराट् स्थासु चरिष्णु भूमः ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

आद्यः—प्रथम; अवतारः—अवतार; पुरुषः—कारणार्णवशायी विष्णु; परस्य—भगवान् का; कालः—काल, समय; स्वभावः—आकाश; सत्—फल; असत्—कारण; मनः—मन; च—भी; द्रव्यम्—तत्त्व; विकारः—भौतिक अहंकार; गुणः—प्रकृति के गुण; इन्द्रियाणि—इन्द्रियाँ; विराट्—पूर्ण शरीर; स्वराट्—गर्भोदकशायी विष्णु; स्थासु—अचर; चरिष्णु—चर; भूमः—भगवान् का।

कारणार्णवशायी विष्णु ही परमेश्वर के प्रथम अवतार हैं। वे नित्य काल, आकाश, कार्य-कारण, मन, तत्त्वों, भौतिक अहंकार, प्रकृति के गुणों, इन्द्रियों, भगवान् के विराट रूप, गर्भोदकशायी विष्णु तथा समस्त चर एवं अचर जीवों के स्वामी हैं।

तात्पर्य : इसके पूर्व हम कई बार बता चुके हैं कि यह भौतिक सृष्टि स्थायी नहीं है। यह सर्वशक्तिमान ईश्वर की भौतिक शक्ति का अस्थायी प्रदर्शन मात्र है। यह भौतिक सृष्टि उन बद्धजीवों के लिए सुअवसर प्रदान करने के लिए आवश्यक है, जो दिव्य प्रेमाभक्ति द्वारा भगवान् के साथ सम्बन्ध बनाने के इच्छुक नहीं होते। ऐसे बद्धजीवों को दिव्य लोक के मुक्त जीवन में प्रविष्ट होने नहीं दिया

जाता, क्योंकि वे हृदय से भगवान् की सेवा नहीं करना चाहते। बजाय इसके वे छद्म ईश्वर के रूप में भोग करना चाहते हैं। सारे जीव स्वभावतः भगवान् के नित्य सेवक हैं, किन्तु उनमें से कुछ, अपनी स्वतन्त्रता का दुरुपयोग करने के कारण सेवा नहीं करना चाहते, अतएव उन्हें भौतिक प्रकृति अर्थात् माया या भ्रम का भोग करने दिया जाता है। यह भ्रम इसलिए कहलाता है, क्योंकि माया के चंगुल में फँसे जीव वास्तविक भोक्ता नहीं होते, यद्यपि माया द्वारा मोहग्रस्त होने के कारण वे अपने को ही भोक्ता समझते हैं। ऐसे मोहग्रस्त लोगों को रह-रह कर अवसर प्रदान किया जाता है कि वे प्रकृति के मिथ्या स्वामी बनने की अपनी विकृत प्रवृत्ति को सुधार लें। उन्हें भगवान् कृष्ण के साथ शाश्वत सम्बन्ध के विषय में वेदों की शिक्षा दी जाती है (*वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः*)। अतएव इस अस्थायी भौतिक सृष्टि की अभिव्यक्ति भगवान् की बहिरंगा भौतिक शक्ति का प्रदर्शन है और सम्पूर्ण खेल की व्यवस्था करने के लिए भगवान् कारणार्णवशायी विष्णु के रूप में उसी तरह अवतरित होते हैं, जिस तरह सरकारी कार्यों की अस्थायी देखरेख के लिए एक मैजिस्ट्रेट की नियुक्ति सरकार द्वारा की जाती है। ये कारणार्णवशायी विष्णु अपनी भौतिक शक्ति के ऊपर दृष्टिपात करके (*स ऐक्षत*) भौतिक सृष्टि करते हैं। श्रीमद्भागवत के प्रथम स्कन्ध में *जगृहे पौरुषं रूपम्* श्लोक की व्याख्या हम कुछ हद तक पहले ही दे चुके हैं। भौतिक सृष्टि की माया के खेल की अवधि कल्प कहलाती है और हम एक कल्प के बाद दूसरे कल्प में सृष्टि की चर्चा पहले ही कर चुके हैं। उनके अवतार तथा शक्तिमय कार्यकलापों से, सृष्टि के सम्पूर्ण अवयव प्रगट होते हैं। ये अवयव हैं काल, आकाश, कारण, फल, मन, स्थूल तथा सूक्ष्म तत्त्व तथा उनके साथ अन्तःक्रिया करनेवाले गुण—सतो, रजो तथा तमो—फिर इन्द्रियाँ तथा उनका आगार स्रोत, विराट विश्वरूप जो गर्भोदकशायी विष्णु के रूप में द्वितीय अवतार है तथा समस्त सचराचर जीव जो द्वितीय अवतार से उत्पन्न होते हैं, ये सारे प्रकट हो जाते हैं। अन्ततोगत्वा ये सारे सृष्टिकारी तत्त्व तथा स्वयं सृष्टि, भगवान् की शक्ति की अभिव्यक्तियाँ ही हैं, उनके नियन्त्रण से स्वतन्त्र कुछ भी नहीं है। सृष्टि में यह पहला अवतार कारणार्णवशायी विष्णु के रूप में है, जो आदि भगवान् कृष्ण का पूर्णांश है, जिसका वर्णन *ब्रह्म-संहिता* (५.४८) में इस प्रकार हुआ है :

यस्यैकनिश्चितकालमथावलम्ब्य

जीवन्ति लोमविलजा जगदण्डनाथाः ।

विष्णुर्महान् स इह यस्य कलाविशेषो

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥

सारे अनन्त ब्रह्माण्ड महाविष्णु या कारणार्णवशायी विष्णु के श्वासोच्छ्वास की अवधि तक ही रहते हैं, ये आदि भगवान् कृष्ण या गोविन्द के केवल पूर्णांश हैं ।

अहं भवो यज्ञ इमे प्रजेशा

दक्षादयो ये भवदादयश्च ।

स्वर्लोक-पालाः खगलोक-पाला

नृलोक-पालास्तललोक-पालाः ॥ ४३ ॥

गन्धर्व-विद्याधर-चारणेशा

ये यक्ष-रक्षोरग-नाग-नाथाः ।

ये वा ऋषीणामृषभाः पितृणां

दैत्येन्द्र-सिद्धेश्वर-दानवेन्द्राः ।

अन्ये च ये प्रेत-पिशाच-भूत--

कूष्माण्ड-यादो-मृग-पक्ष्यधीशाः ॥ ४४ ॥

यत्किञ्च लोके भगवन्महस्व-

दोजः-सहस्वद् बलवत् क्षमावत् ।

श्री-ह्री-विभूत्यात्मवद्भुतार्ण

तत्त्वं परं रूपवदस्व-रूपम् ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

अहम्—मैं (ब्रह्मा); भवः—शिवजी; यज्ञः—भगवान् विष्णु; इमे—ये सब; प्रजा-ईशाः—जीवों के पिता; दक्ष-आदयः—दक्ष, मरीचि, मनु, आदि.; ये—जो; भवत्—आप; आदयः च—तथा कुमारगण (सनत्कुमार तथा उनके भाई); स्वर्लोक-पालाः—स्वर्ग लोक के नायक; खगलोक-पालाः—अन्तरिक्ष यात्रियों के नायक; नृलोक-पालाः—मनुष्यों के नेता; तललोक-पालाः—निम्नलोकों के नायक; गन्धर्व—गन्धर्वलोक-वासी; विद्याधर—विद्याधर लोक के वासी; चारण-ईशाः—चारणों के नेता; ये—तथा अन्य; यक्ष—यक्षों के नेता; रक्ष—राक्षस; उरग—सर्प; नाग-नाथाः—नागलोक (पृथ्वी के नीचे) के नायक; ये—अन्य; वा—भी; ऋषीणाम्—ऋषियों के; ऋषभाः—प्रमुख; पितृणाम्—पितरों के; दैत्य-इन्द्र—नास्तिकों के नायक; सिद्ध-ईश्वर—सिद्धलोक के नायक (अन्तरिक्ष पुरुष); दानव-इन्द्राः—अनार्यों के नायक; अन्ये—उनके अतिरिक्त; च—भी; ये—जो; प्रेत—मृतक; पिशाच—दुष्टात्माएँ; भूत—जिन्न; कूष्माण्ड—विशेष प्रकार का पिशाच; यादः—जलचर; मृग—पशु; पक्षि-अधीशाः—विशाल चील्ह; यत्—कुछ भी; किम् च—तथा प्रत्येक वस्तु; लोके—संसार में; भगवत्—भगयुक्त या अद्वितीय शक्तिसम्पन्न; महस्वत्—विशेष मात्रा का; ओजः-सहस्वत्—विशिष्ट मानसिक तथा ऐंद्रिय कौशल; बलवत्—बल से सम्पन्न; क्षमावत्—क्षमा से युक्त; श्री—सौन्दर्य; ह्री—पाप कृत्य से लज्जित; विभूति—धन; आत्मवत्—बुद्धि-सम्पन्न; अद्भुत—आश्चर्यजनक; अर्णम्—जाति; तत्त्वं—विशिष्ट सत्य; परम्—दिव्य; रूपवत्—रूपवाला; अस्व-रूपम्—भगवत्स्वरूप का नहीं ।

मैं स्वयं (ब्रह्मा), शिवजी, भगवान् विष्णु, दक्ष आदि प्रजापति, तुम (नारद तथा

कुमारगण), इन्द्र तथा चन्द्र जैसे देवता, भूलोक के नायक, भूलोक के नायक, अधोलोक के नायक, गन्धर्वलोक के नायक, विद्याधरलोक के नायक, चारणलोक के नायक, यक्षों, राक्षसों तथा उरगों के नेता, ऋषि, बड़े-बड़े दैत्य, बड़े-बड़े नास्तिक तथा अन्तरिक्ष पुरुष तथा मृतक, प्रेत, शैतान, जिन्न, कूष्माण्ड, बड़े-बड़े जलचर, बड़े-बड़े पशु तथा पक्षी आदि या अन्य शब्दों में ऐसी कोई भी वस्तु जो बल, ऐश्वर्य, मानसिक तथा ऐन्द्रिय कौशल, शक्ति, क्षमा, सौन्दर्य, विनम्रता, ऐश्वर्य तथा प्रजनन से युक्त हो, चाहे रूपवान या रूप-विहीन, वे सब भले ही विशिष्ट सत्य तथा भगवान् के रूप प्रतीत हों, लेकिन वास्तव में वे वैसे हैं नहीं। वे सभी भगवान् की दिव्य शक्ति के अंशमात्र हैं।

तात्पर्य : ऊपर की सूची में जिनके नाम हैं, उनमें ब्रह्माण्ड के प्रथम प्राणी ब्रह्माजी से लेकर शिवजी, विष्णु, नारद तथा अन्य शक्तिशाली देवता, मनुष्य, अतिमानव, मुनि, ऋषि तथा अद्वितीय शक्ति एवं ऐश्वर्यवाले निम्न प्राणी जिसमें भूत, शैतान, प्रेत, जिन्न, जलचर, पक्षी तथा पशु सम्मिलित हैं, ये सब परमेश्वर प्रतीत होते हैं, किन्तु वास्तव में इनमें से एक भी परमेश्वर नहीं है। इनमें से हर एक में परमेश्वर की महान् शक्ति का एक अंश ही रहता है। अल्पज्ञ मनुष्य भौतिक घटनाओं के आश्चर्यजनक कार्यों को देखकर उसी तरह विस्मित रह जाते हैं, जिस प्रकार आदिवासी वज्रपात, विशाल वटवृक्ष या जंगल में उत्तुंग पर्वत देखकर विस्मित होते हैं। ऐसे अविकसित मानवों के लिए भगवान् की शक्ति का रंचमात्र प्रदर्शन भी मोहनेवाला है। इससे आगे सभ्य मनुष्य देवी-देवताओं की शक्ति से मोहित होते हैं। अतएव जो लोग भगवान् के विषय में कोई वास्तविक सूचना के बिना भगवान् की सृष्टि की किसी भी वस्तु की शक्ति से चकित होते हैं, वे शाक्त या महान् शक्तियों के पूजक कहलाते हैं। आधुनिक विज्ञानी भी प्राकृतिक घटनाओं की आश्चर्यजनक क्रियाओं, प्रतिक्रियाओं से मोहित हो जाते हैं, अतएव वे भी शाक्त हैं। ये निम्नकोटि के व्यक्ति, धीरे-धीरे उठकर, सौरिय (सूर्य देवता के उपासक) या गाणपत्य (गणपति के रूप में जनताजनार्दन या दरिद्र नारायण—अर्थात् जनता के पूजक) बन जाते हैं और फिर अमर आत्मा की खोज में शिवजी की उपासना करने वालों के स्तर तक उठ जाते हैं; फिर वे भगवान् विष्णु, परमात्मा आदि की पूजा करने वालों के स्तर तक पहुँच जाते हैं, किन्तु उन्हें आदि भगवान् विष्णु-रूप

गोविन्द या कृष्ण की कोई जानकारी नहीं होती। अन्य विधियों में, कुछ लोग जाति, राष्ट्रीयता, पक्षी, पशु, प्रेत, शैतान आदि के पूजक होते हैं। जनता में, कष्टों के स्वामी शनिदेव तथा चेचक की देवी शीतलादेवी की पूजा सामान्य है और ऐसे अनेक मूर्ख हैं, जो जनता के दरिद्रों की पूजा करते हैं। अतएव विभिन्न व्यक्ति, समाज तथा परिवार भगवान् की किसी न किसी शक्तिमयी अभिव्यक्ति की पूजा करते हैं और उसे त्रुटिवश ईश्वर समझ लेते हैं। लेकिन इस श्लोक में ब्रह्माजी ने उपदेश दिया है कि इनमें से कोई भी परमेश्वर नहीं हैं; वे आदि शक्तिमान भगवान् श्रीकृष्ण के मूल-मोरपंख से उधार लिए हुए पंख जैसे हैं। जब *भगवद्गीता* में भगवान् कृष्ण केवल अपनी पूजा करने का उपदेश देते हैं, तो यह समझना चाहिए कि भगवान् कृष्ण की पूजा में उपर्युक्त सब या सभी की पूजा सम्मिलित है, क्योंकि भगवान् कृष्ण में सभी सम्मिलित हैं।

जब वैदिक साहित्य में भगवान् को रूपविहीन बताया जाता है, तो यह समझना चाहिए कि ऊपर जितने रूप बताये गये हैं, वे सब विश्वज्ञान के अनुभव के अन्तर्गत भगवान् की दिव्य शक्तियों के ही विभिन्न प्रदर्शन हैं; इनमें से कोई भी भगवान् के दिव्य रूप का यथार्थ प्रतिनिधित्व नहीं करता। किन्तु जब भगवान् पृथ्वी पर या ब्रह्माण्ड के भीतर कहीं भी अवतरित होते हैं, तो अल्पज्ञानी लोग उन्हें भी अपने-जैसा समझने की भूल करते हैं और इस तरह वे ब्रह्म को रूपविहीन या निर्विशेष मानते हैं। वास्तव में, भगवान् न तो रूपविहीन हैं, न ही वे विराट रूपों के भीतर अनुभव किये जानेवाले बहुरूपों में से किसी से सम्बद्ध होते हैं। मनुष्य को चाहिए कि ब्रह्माजी के उपदेश का पालन करते हुए भगवान् विषयक सत्य को जानने का प्रयास करे।

प्राधान्यतो यानृष आमनन्ति

लीलावतारान् पुरुषस्य भूमः ।

आपीयतां कर्ण-कषाय-शोषा-

ननुक्रमिष्ये त इमान् सुपेशान् ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

प्राधान्यतः—मुख्यतया; यान्—वे सब; ऋषे—हे नारद; आमनन्ति—पूजते हैं; लीला—लीलाएँ; अवतारान्—सभी अवतार; पुरुषस्य—भगवान् के; भूमः—सर्वश्रेष्ठ, परम; आपीयताम्—तुम्हारे द्वारा आस्वादन के लिए; कर्ण—कान; कषाय—मैल; शोषान्—भाप बन जानेवाला; अनुक्रमिष्ये—एक के बाद एक वर्णन करेंगे; ते—वे; इमान्—जिस रूप में वे मेरे हृदय में हैं; सु-पेशान्—सुनने में मधुर।

हे नारद, अब मैं एक-एक करके भगवान् के दिव्य अवतारों का वर्णन करूँगा, जो लीला अवतार कहलाते हैं। उनके कार्यकलापों के सुनने से कान में संचित सारा मैल हट जाता है। ये लीलाएँ सुनने में मधुर हैं और आस्वाद्य हैं, अतएव ये मेरे हृदय में सदैव बनी रहती हैं।

तात्पर्य : जैसाकि *श्रीमद्भागवत* (१.५.८) के प्रारम्भ में कहा गया था कि मनुष्य श्रवण करके तब तक पूर्ण संतुष्ट नहीं हो पाता, जब तक उसे भगवान् के दिव्य कार्यकलापों के श्रवण करने का अवसर प्राप्त न हो। अतएव इस श्लोक में ब्रह्माजी भी भगवान् की दिव्य लीलाओं के बताने की महत्ता पर बल देना चाहते हैं कि किस प्रकार भगवान् इस भौतिक लोक पर आते हैं और स्वयं को प्रकट करते हैं। प्रत्येक जीव में सुहावने समाचार सुनने की प्रवृत्ति होती है, अतएव हममें से प्रत्येक व्यक्ति को रेडियोस्टेशनों द्वारा प्रसारित समाचार तथा वार्ताएँ सुननी अच्छी लगती हैं। लेकिन कठिनाई तो यह है कि इन सारे समाचारों को सुनकर कोई भी व्यक्ति हृदय में तुष्टि का अनुभव नहीं करता। इस असंतुष्टि का कारण यह है कि हमारे अन्तरतम के साथ इन संवादों का कोई मेल नहीं हो पाता। इस दिव्य ग्रंथ का सृजन श्रील व्यासदेव ने भगवान् के कार्यकलापों को सुनाकर सामान्य लोगों को अधिकाधिक संतुष्टि प्रदान करने के उद्देश्य से किया, क्योंकि नारद मुनि ने उन्हें इसके लिए आदेश दिया था। भगवान् के ऐसे कार्यकलाप मुख्यतः दो प्रकार के हैं। पहला भौतिक सृजनात्मक शक्ति की संसारी अभिव्यक्ति से सम्बन्धित है और दूसरा देश-काल के अनुसार विभिन्न अवतारी रूपों में उनकी लीलाओं से सम्बद्ध है। भगवान् के असंख्य अवतार हैं, जिस तरह नदी में निरन्तर तरंगें आती जाती रहती हैं। अल्प-ज्ञानी व्यक्ति भौतिक जगत में भगवान् की सृजनात्मक शक्तियों में अधिक रुचि लेते हैं और भगवान् से सम्बन्ध-विच्छेद रहने के कारण वे वैज्ञानिक शोध के नाम पर सृष्टि-सम्बन्धी अनेक सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं। किन्तु भगवान् के भक्त यह भलीभाँति जानते हैं कि किस तरह भगवान् की भौतिक शक्तियों के घात-प्रतिघात से सृजनात्मक शक्तियाँ कार्य करती हैं। अतएव जब भगवान् इस भौतिक जगत पर स्वयं अवतरित होते हैं, तो वे भगवान् के दिव्य कार्यकलापों में अधिक रुचि लेते हैं। *श्रीमद्भागवत* भगवान् के ऐसे कार्यकलापों का इतिहास है और जो लोग *श्रीमद्भागवत* को सुनने में रुचि लेते हैं, उनके हृदयों पर संचित संसारी धूल साफ हो जाती है। बाजार में हजारों रद्दी ग्रंथ हैं, किन्तु जो व्यक्ति

श्रीमद्भागवत में रुचि उत्पन्न कर लेता है, वह ऐसे गन्दे साहित्य में रुचि खो देता है। इस प्रकार श्रीब्रह्माजी भगवान् के प्रमुख अवतारों का वर्णन करने का प्रयास कर रहे हैं, जिससे नारद उन्हें दिव्य अमृत की भाँति पी सकें।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के द्वितीय स्कन्ध के अन्तर्गत “पुरुष-सूक्त की पुष्टि” नामक छोटे अध्याय के भक्ति वेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।